भारत का सांस्कृतिक आन्दोलन
और हमारा कर्तव्य

शिवदास घोष

भारत का सांस्कृतिक आन्दोलन और हमारा कर्तव्य

सर्वहारा क्रांति की आवश्यक पूर्व-शर्तों में से अन्यतम है सर्वहारा संस्कृति और मूल्यबोधों को अपने जीवन में अमल में लाना और उनका प्रचार-प्रसार करना। उल्लेखनीय है कि परिर्वतन की धारावाहिकता में और उसके साथ विच्छेद कराके ही सर्वहारा संस्कृति तैयार होती है और विकसित होती है। बुर्जुआ मानवतावादी संस्कृति, नीति-नैतिकता और रुचिबोध के साथ इस तरह विच्छेद कराके, या यूं कहें कि उनको हर पहलू से नि:शेषित करने के द्वारा ही सर्वहारा संस्कृति का उन्मेष होता है। संस्कृति के क्षेत्र में कुछ मौलिक सैद्धांतिक सवालों का विचार-विश्लेषण करते हुए यह भाषण भारत के नवजागरण आन्दोलन, विशेषकर बंगाल के नवजागरण आन्दोलन की विभिन्न धाराओं पर रोशनी डालता है। इसके अलावा यह आज के क्रांतिकारी सांस्कृतिक आन्दोलन के कार्यकर्ताओं के दायित्व-कर्तव्यों को भी साफ तौर पर पेश करता है।

बंधुओ,

कवि नजरूल इस्लाम की 70वीं जयंती के इस अवसर पर आज की सभा के आयोजकों ने मुझसे जिस विषय पर चर्चा करने को कहा है, वह है–'भारत का सांस्कृतिक आन्दोलन और हमारा कर्तव्य'। नजरूल इस्लाम की जयंती के मौके पर एक ऐसे विषय पर चर्चा करने का मात्र एक ही उद्देश्य हो सकता है और वह यह कि आयोजक लोग शायद यह चाहते हैं कि हमारे देश में सांस्कृतिक आन्दोलन की जो धारा कवि नजरूल इस्लाम, शरतचन्द्र और रवीन्द्रनाथ को केन्द्र कर उस समय जिस स्तर पर पहुंची थी–उसकी समीक्षा और सही मूल्यांकन और सांस्कृतिक आन्दोलन की उस धारा के उत्तराधिकारियों के रूप में वर्तमान सांस्कृतिक आन्दोलन में लगे कार्यकर्ताओं का दृष्टिकोण और फर्ज क्या होगा–उस पर विचार करना, मुझे तो यही लग रहा है। लिहाजा,

मैं समझता हूं कि अगर इस विषय पर चर्चा करनी हो तो विचार-विश्लेषण द्वारा सबसे पहले यह देखना होगा कि हमारे देश में सामाजिक और सांस्कृतिक क्रांति की जो धारा राजा राममोहन राय से शुरू होकर विद्यासागर, रवीन्द्रनाथ, शरतचन्द्र और नजरूल के माध्यम से प्रकट हुई, प्रस्फुटित हुई या परवान चढ़ी—उस सामाजिक-सांस्कृतिक क्रांति की परिणति आज के भारत की समाज-व्यवस्था में हम क्या देख रहे हैं? मौजूदा सामाजिक व्यवस्था में हम उसकी कौन-सी परिणति देख रहे हैं? उस सांस्कृतिक आन्दोलन के उनके उत्तराधिकारी, अर्थात हम लोग—जो आज आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक आन्दोलन में लगे हुए हैं, उस आन्दोलन की धारा को कितनी दूर और आगे ले जाने की कोशिश की है या उसका सही मूल्यांकन करने में ही कहां तक सक्षम हुए हैं? पहले इसी विषय पर चर्चा कर लेना सबसे ज्यादा जरूरी है। देखा जाये कि इस देश का सांस्कृतिक आन्दोलन या सांस्कृतिक परिस्थिति किस हालत में और किस स्तर पर है।

इसका स्वरूप सही-सही आंक पाने के लिए सबसे पहले यह जानना जरूरी है कि नजरूल और उनके जैसे लोगों ने किस प्रकार की संस्कृति की साधना की थी। विश्व-प्रकृति की प्रत्येक घटना और वस्तुसत्ता में हम दो परस्पर विरोधी पहलू मौजूद पाते हैं। मानव सभ्यता की प्रगति के इतिहास में सांस्कृतिक आन्दोलन का क्षेत्र भी इस नियम का अपवाद नहीं है। इसलिए मानव के सांस्कृतिक विकास के प्रत्येक स्तर पर सांस्कृतिक आन्दोलन के अंदर हम हर समय दो परस्पर विरोधी धाराएं देखते हैं। नजरूल आदि लोगों के जमाने में भी वही था, आज भी वही है। राजा राममोहन राय से लेकर स्तर-दर-स्तर विद्यासागर, बंकिमचंद्र, रवीन्द्रनाथ, शरतचन्द्र और नजरूल तक सांस्कृतिक आन्दोलन की जिस धारा का निर्माण हुआ था, एक धड़े ने उसी रास्ते संस्कृति की साधना की थी। फिर दूसरा धड़ा ऐसे लोगों का था, जिन्होंने उस धारा का विरोध किया था। उन दिनों जिन्होंने नजरूल आदि की धारा में संस्कृति की साधना की थी, उन्होंने सामाजिक और सांस्कृतिक क्रांति का जयगान किया था। उनका कहना था कि पुरानी सामाजिक व्यवस्था को ध्वस्त करना होगा। पुरानी नैतिकता, अंध विश्वास और धर्मांधता को मिटाना होगा। मनुष्य के नये प्रयोजन से,

देश के नये प्रयोजन से नये मूल्यबोधों के आधार पर नये सिरे से समाज को पुनर्गठित करना होगा। पुराने समाज को तोड़ना होगा। उस समय इनके सांस्कृतिक आन्दोलन के अंदर से यही स्वर ध्वनित हुआ था। सामाजिक क्रांति की आवश्यकता ने ही उस वक्त की सांस्कृतिक क्रांति को जन्म दिया था। उस सांस्कृतिक आन्दोलन के जरिये देश के अनगिनत अंधविश्वास-ग्रस्त, लांछित एवं शोषित लोगों के सामने उस वक्त जो नया विचार रखा गया था, वह था—यदि हम देश को और जनसाधारण को तरक्की के रास्ते आगे ले जाना चाहते हैं, यदि हम जाग्रत होना चाहते हैं, यदि राष्ट्र का पुनरुत्थान चाहते हैं—यदि पूरे देश को नयी चेतना, जनवादी चेतना से जगाना है—तो धार्मिक रूढ़िवादिता, सभी प्रकार के अंधविश्वासों और अंधता के पुराने युग से हमें बाहर आना होगा। राजा राममोहन से लेकर नजरूल तक पहुंचकर सांस्कृतिक क्रांति की विचारधारा ने मोटे तौर पर एक परिपूर्णता प्राप्त कर ली थी। सांस्कृतिक क्रांति की इस विचारधारा का सही मूल्यांकन करने में सक्षम होने पर ही हम यह समझ सकेंगे कि मौजूदा समय में हमारा कर्तव्य क्या है।

मूल्यांकन का मापदण्ड

इस पर चर्चा करने से पहले मैं इसी से संबंधित एक और मुद्दे पर चर्चा कर लेना चाहता हूं। कोई विचारधारा या कोई चिंतन प्रगतिशील है या प्रतिक्रियावादी—यह तय करने की कसौटी क्या होगी? मापदण्ड क्या होगा? क्या व्यक्ति-मानस की समझदारी इसकी कसौटी होगी? एक व्यक्ति, चाहे वह जितना बड़ा ज्ञानी-गुणी क्यों न हो, क्या उसकी व्यक्तिगत समझदारी इस विषय में विचार करने का मापदंड हो सकती है? एक व्यक्ति अपने निजी मानसिक गठन के मुताबिक किसी एक विषय को किस प्रकार देख रहा है, क्या समझ रहा है या उसके मन में क्या हो रहा है—क्या विचार की सर्वोत्कृष्ट कसौटी वही होगी? अगर ऐसा हो, तब तो हर आदमी को उसके अपने मानसिक गठन के मुताबिक जो मन में आयेगा, उसे ही प्रगतिशील कहने का हक हासिल रहेगा। तब तो पूरे देश की जनता के सामने, कौन-सा रास्ता सही है, इसे तय करने के लिए, विचार करने की किसी आम कसौटी का

निर्माण बिल्कुल ही संभव नहीं है। इस प्रकार की पद्धति वैज्ञानिक नहीं है, इसलिए अपनाने लायक भी नहीं है। इसके दो कारण हैं। पहला यह है कि प्रत्येक विषय के बारे में सत्य धारणा एक ही होती है और यह हमेशा ख्याल रखना होगा कि वह सत्य सापेक्ष (relative) और ठोस (concrete) होता है। चूंकि किसी भी विषय के बारे में सत्य की धारणा अपने-अपने मन के मुताबिक नहीं हो सकती है, इसलिए जनसाधारण के सामने विचार का एक मानक (standard) होना चाहिए—कुछ भी विचार करने के लिए एक सामान्य कसौटी की जरूरत है और यह सामान्य कसौटी विज्ञान-संगत सामान्यीकरण (generalisation) के जरिये ही निर्मित होती है।

सारी जनशक्ति को, सम्पूर्ण जनमानस को यदि सही रास्ते पर संचालित करना हो, तो जो भावना-धारणा देश के लिए कल्याणकारी है, जनता के लिए कल्याणकारी है, समाज की अग्रगति की परिपूरक है—यदि हम चाहते हैं कि समाज के ज्यादातर लोग उसे अपनायें, तो वैज्ञानिक विचार-विश्लेषण द्वारा पहले ही यह तय कर लेना होगा कि कौन-सी चिंतन-पद्धति सही है। तभी हम देश के जनसाधारण के सामने विचार करने का एक सामान्य एवं वैज्ञानिक मापदंड पेश करने में सक्षम होंगे। इसके साथ सांस्कृतिक क्रांति में जनसाधारण का व्यापक तौर पर हिस्सा लेने का प्रश्न ओतप्रोत रूप से जुड़ा हुआ है।

दूसरा यह है कि एक और पहलू से विचार करने पर भी पायेंगे कि व्यक्तिगत समझदारी सही-गलत का विचार करने के मामले में सही मापदण्ड नहीं हो सकती। व्यक्ति की व्यक्तिगत समझदारी भी जांचने-विचारने का विषय है। व्यक्तिगत अनुभव भी विचारणीय विषय है। व्यक्ति का मानसिक गठन और ढांचा भी वैज्ञानिक परीक्षण-निरीक्षण के विषय हैं। चूंकि आप सोच रहे हैं और ईमानदारी से सोच रहे हैं, इसलिए वह सत्य नहीं हो जाता। पूरी ईमानदारी के बावजूद आप गलती कर सकते हैं। आप ईमानदारी के साथ भी कुछ ऐसा सोच सकते हैं, जिसके फलस्वरूप आप जो नहीं चाह रहे हैं, वही कर बैठेंगे। मैं पाखंडियों या कांइयां लोगों की बात नहीं कर रहा हूं। बल्कि जो लोग ईमानदार और लगनशील हैं—उनके जीवन में भी ऐसी बहुत सारी विडंबनाएं आयी हैं। उन्होंने सारा जीवन देकर, जनकल्याण के

लिए जो करने की जरूरत महसूस की, वह किया; लेकिन नतीजा ठीक उल्टा हुआ। बहुतों ने इसे समय रहते समझ लिया; फिर बहुत लोग सारी जिंदगी भी समझ नहीं पाये। इस प्रकार की 'ट्रेजेडी' इसलिए घटी, चूंकि उन्होंने अपनी व्यक्तिगत समझदारी और ईमानदारी को ही मूलधन मानकर चलना चाहा। हालांकि ईमानदारी एक ऐसी महत्वपूर्ण बुनियादी चीज है, जिसके बिना कोई भी काम नहीं हो सकता है। यदि प्रतिक्रियावादी भी कुछ करते हैं, जैसे नाजियों ने जब कुछ किया था, जापानी साम्राज्यवादियों ने भी जब कुछ किया था—तब उन्हें भी ईमानदारी की जरूरत पड़ी थी। उन्हें भी निष्ठा एवं लगन की जरूरत पड़ी थी। यह बात भूलने की नहीं कि उन्होंने भी 'हाराकीरी' की थी। लेकिन जिस आदर्श एवं उद्देश्य के लिए उन्होंने 'हाराकीरी' की, क्या कोई भी आदमी आज उसे श्रद्धा की नजर से देखता है? वर्तमान दुनिया का हर आजादी-पसंद व्यक्ति उन्हें सभ्यता का दुश्मन मानता है। लोग उनके काम को बर्बरता मानते हैं। जबकि जर्मन गेस्टापो अथवा जापानी साम्राज्यवाद के पैरोकारों में भी निष्ठा एवं लगन थी।

इसलिए मैं कह रहा हूं कि किसी भी काम के लिए ईमानदारी और निष्ठा-लगन तो रहनी ही चाहिए। इनके बगैर तो कोई काम होने का ही नहीं। लेकिन इनके होने से ही सब कुछ हो गया अर्थात महज ईमानदारी और निष्ठा-लगन रहने से ही सत्य पर पहुंचा जा सकेगा—यह धारणा गलत है। लिहाजा, यह विचारने का मापदंड नहीं हो सकता। अत: यह साफ है कि कौन-सी भावना-धारणा प्रगतिशील है या प्रतिक्रियावादी—इसे जांचने-परखने, विचार करने का मापदंड कोई मनगढ़ंत फार्मूला नहीं हो सकता। फलां यह कह गये हैं, लिहाजा यह प्रगतिशील है और फलां यह कह गये हैं, इसलिए वह प्रतिक्रियावादी है—इस प्रकार विचार करना ठीक नहीं है। क्योंकि, किसी ने चाहे जो कुछ भी क्यों न कहा हो, पहले यह विचार-विश्लेषण करके देखना होगा कि वह विज्ञान और इतिहास की कसौटी पर खरा उतरता है या नहीं, तर्क पर टिकता है या नहीं। अत: इतिहास और वैज्ञानिक तर्क-विचार पर आधारित जो अनुभव हमें हासिल है, उसकी कसौटी पर विचार करके देखना होगा कि कौन प्रगतिशील है और कौन प्रतिक्रियावादी है। आम तौर पर सभी जानते हैं कि गति की दो धाराएं

होती हैं–एक प्रगति की धारा और दूसरी प्रतिक्रिया की धारा। जो चीज सामने ठेलती है, हमें आगे की ओर ले जाती है, उसे हम प्रगतिशील कहते हैं। फिर जो चीज प्रगति की राह में रुकावट है, हमें पीछे की ओर खींचती है, वह प्रतिक्रियावादी कहलाती है। हालांकि विज्ञान के लहजे में यह आगे और पीछे जाने की बात सापेक्ष है। खैर जो हो, कुल बात यही ठहरती है कि कुछ भी एक जगह ठहरा नहीं रह सकता। यदि कोई चेतना को एक ही जगह टिकाये रखना चाहे–चेतना का एक विशेष मान जो मौजूदा हालात में काफी उन्नत स्तर का हो–उसे ही हमेशा के लिए पकड़ कर रखना चाहे, तो ऐतिहासिक गति की राह में देखा जायेगा कि आज का वह उन्नत मान आगे के जमाने में एकदम अपर्याप्त और निचले स्तर के मान में तब्दील हो चुका है। कारण, सत्य का मायने ही है ठोस (concrete) सत्य एवं सापेक्ष (relative) सत्य। अत: देखा जा रहा है कि किसी चीज के लिए एक जगह ठहरे रहना संभव नहीं है।

आप चाहे लाख कोशिश करें, फिर भी सिद्धांत, रुचि और मूल्यबोध के किसी एक विशेष उन्नततर मान को एक ही जगह ठहराये नहीं रख सकते। चाहे वह शरतचन्द्र, नजरूल, रवीन्द्रनाथ की रुचि का मान हो; या बुद्ध, शंकराचार्य, ईसा या मुहम्मद का या फिर मार्क्स, एंगेल्स या लेनिन का ही हो–उनके कोई भी सिद्धांत एवं मूल्यबोध की धारणा क्यों न हो, उसे एक ही जगह टिकाये रखने की कोशिश होने से ही वह प्रतिक्रियावादी हो जायेगी। एक और विषय पर चर्चा कर लेने से यह बात ज्यादा साफ हो जायेगी। हम मानसिकता कहने से क्या समझते हैं? आखिर विचार एवं भाव क्या है? एक तरफ व्यक्ति-मस्तिष्क और विश्व-प्रकृति के बीच हमेशा होते रहने वाला द्वन्द्व-संघात और दूसरी तरफ व्यक्ति-मस्तिष्क का उसके खुद के सामाजिक परिवेश के साथ द्वन्द्व–इन दोनों द्वन्द्वों के फलस्वरूप ही व्यक्ति की मननशीलता और चिंतन का विकास होता रहता है। पूरे मानव समाज के इन विचारों या व्यक्ति-मननशीलता के सामान्यीकरण के माध्यम से ही सामाजिक मानसिकता पैदा होती है, जिसे हम संक्षेप में सामाजिक चिंतन (social thinking) या सामाजिक मनन कह सकते हैं। फिर एक तरफ सामाजिक चिंतन-मनन के आंतरिक द्वन्द्व और

उसके साथ विश्व-प्रकृति एवं बाहरी जगत के द्वन्द्व के जरिये ही लगातार मनुष्य की मानसिकता का विकास तथा भाव-जगत की सृष्टि होती जा रही है। कोई भी इस द्वन्द्व को एक ही जगह बांधे नहीं रख सकता। तमाम मनुष्यों की मननशीलता के ये जो दो प्रकार के द्वन्द्व हैं, इन्हें यदि हम एक ही जगह बांधे रख सकते, तो विचार-जगत को भी एक ही जगह बांधे रखना संभव होता। इसलिए किसी को भी एक ही जगह रोकने की गुंजाइश नहीं है। अत: जितनी भी प्रगतिशील भावना-धारणा क्यों न हो, जहां उसे चिरस्थाई बनाकर एक ही जगह ठहराये रखने का प्रयास हुआ, वहीं उसका अर्थ कुछ और हो जाता है, वह प्रतिक्रियावादी हो जाती है।

हमने पहले ही चर्चा की है कि गति दो प्रकार की होती है—जो हमें आगे की ओर ले जानेवाली है, वह प्रगतिशील और जो पीछे खींचनेवाली है, वह प्रतिक्रियावादी। आज जो विचार मौजूदा सामाजिक जरूरत यानी प्रगति के परिपूरक के अर्थ में सबसे उन्नत चेतना के स्तर को अभिव्यक्त कर रहा है, स्थिति के परिवर्तन के साथ-साथ अर्थात उत्पादन के साधन और जीवन पद्धति के बदलने के साथ-साथ जो नयी आवश्यकताएं जन्म ले रही हैं, उनके साथ सामंजस्य रखते हुए अगर हम अपनी भावना-धारणा, चिंतन, विचार-पद्धति और मूल्यबोधों को लगातार परिवर्तित और उन्नत न कर सकें, तो क्या होता है? एक समय का प्रगतिशील विचार बाद के जमाने में, बदली हुई स्थिति में उत्पादन और जीवन-पद्धति के पलट जाने के साथ-साथ नयी आवश्यकताओं या प्रयोजनबोध की कसौटी पर प्रतिक्रियावादी हो जाता है और निरंतर हमें पीछे की ओर खींचने लग जाता है। तमाम विचारों का इसी तरह मूल्यांकन करना चाहिए। इसी तरह आदिम समाज से मनुष्य के चिंतन और उसका विचार-जगत स्तर-दर-स्तर एक से दूसरे और भी उन्नत स्तर पर अग्रसर होते हुए हम आधुनिक चिंतन और भावना-धारणाओं तक पहुंच पाये हैं। यदि यह बात न मानी जाये तो मैं समझता हूं कि मेरे एक प्रश्न का जवाब आप में से कोई न दे सकेंगे। जैसे मान लीजिए, बुद्ध, शंकराचार्य, ईसा, मुहम्मद—इतिहास के विभिन्न काल में इन महापुरुषों के आविर्भाव की बात हम सभी जानते हैं। जो धार्मिक लोग हैं, वे उन्हें निश्चय ही 'प्रॉफेट' (अवतार या पैगम्बर)

मानते हैं, ईश्वर की संतान मानते हैं, या ईश्वर द्वारा भेजा हुआ दूत मानते हैं। परंतु जो आधुनिक चिंतन से सम्पन्न मानवतावादी हैं, वे उन्हें महापुरुष और उत्कृष्ट व्यक्तित्व सम्पन्न मनुष्य ही मानते हैं। आजकल हम जिन्हें बात-बात में महापुरुष कह दिया करते हैं, उन महापुरुषों से इनकी कोई तुलना ही नहीं हो सकती। तत्कालीन परिस्थिति में वे लोग जो अपनी प्रतिभा का प्रमाण छोड़ गये हैं, तुलनात्मक दृष्टि से हममें से कितने लोग आज की परिस्थिति में वैसी प्रतिभा का परिचय दे पा रहे हैं! लेकिन जरा-सा ध्यान देने पर आपकी नजर में एक चीज पड़ेगी। जिस आधुनिक चिंतनधारा और भावना-धारणाओं का आज आप पोषण करते हैं, बुद्ध, शंकराचार्य, मुहम्मद जैसे महान प्रतिभाशाली व्यक्तियों की मननशीलता द्वारा उन्हें पैदा करना संभव नहीं हुआ था। अत्यंत उच्च स्तर की मननशीलता रहने के बावजूद वे आधुनिक भावना-धारणाओं को जन्म नहीं दे सके।

जैसे मान लीजिए, आधुनिक जनवादी चेतना, जनतांत्रिक समाज-गठन, धर्मनिरपेक्षता (secularism), धर्मनिरपेक्ष या वस्तुनिष्ठ मानवतावाद (secular humanism) आदि भावना-धारणा एवं आदर्श की बातों और इन पर आधारित जिन नये मूल्यबोधों—व्यक्ति-स्वतंत्रता, नारी स्वतंत्रता, 'लिबर्टी' और 'फ्रीडम', आदि की बात यदि लें, तो देखेंगे कि औद्योगिक क्रांति या पूंजीवादी क्रांति के आधार पर उत्पादन व्यवस्था बदल जाने के साथ-साथ इन सब आधुनिक सोच-विचार का जन्म हुआ—इन बातों को आधुनिक दुनिया के स्कूली विद्यार्थी भी थोड़ा-बहुत जानते हैं, जबकि बुद्ध, शंकराचार्य, ईसा जैसे प्रतिभाशाली लोगों के बूते यह सब चिंतन करना संभव नहीं हुआ। लेकिन ऐसा इसलिए नहीं कि हमसे उनकी प्रतिभा कोई कम थी; या वे लोग उच्च चिंतन नहीं कर सकते थे। बल्कि इसकी वजह यह है कि सभी मनुष्यों के चिंतन की भौतिक परिस्थिति (material condition) पहले मौजूद होती है और तभी उनके विचार जगत की पैदाइश होती है। मनुष्य की चिंतन शक्ति की सापेक्ष स्वतंत्रता की यही सीमा है। इस सत्य को जो नहीं मानते, उनसे मैं कहता हूं कि वे मेरे इस सवाल का जवाब दें—आज के जो सब उच्च आदर्श (lofty ideals) या आधुनिक भावना-धारणाएं हमें हासिल हैं, आखिर ये उन दिनों उनके जेहन में क्यों नहीं पैदा हुए। जो

लोग चिंतन की सीमाहीन (absolute) स्वतंत्रता में विश्वास रखते हैं, जो यह मानते हैं कि 'स्वतंत्र चिंतनसत्ता' ही व्यक्ति को केन्द्र कर विचार-जगत की सृष्टि करती आ रही है, उन्हें मेरे इस सवाल का सामना करना पड़ेगा और इसका जवाब देना पड़ेगा। इस सवाल से रूबरू होते ही वे समझ सकेंगे कि चिंतन शक्ति की 'सीमाहीन स्वतंत्रता' की यह धारणा एकदम गलत व निराधार है। दरअसल हर व्यक्ति के चिंतन की एक सापेक्ष स्वतंत्रता है और फिर उसकी एक सीमा भी है। वह सीमा–इस भौतिक परिस्थिति की सीमा है।

तब हम क्या देख रहे हैं? आपका चिंतन, मेरा चिंतन, अजय दादा* का चिंतन या जिस किसी भी व्यक्ति का चिंतन–दरअसल यह सब क्या है? आखिर विभिन्न व्यक्तियों की विचारधारा का निर्माण किस प्रकार हो रहा है? इसे समझने के लिए हमें सबसे पहले यह जानना जरूरी है कि सामाजिक चिंतन (social thinking) से दरअसल क्या समझा जाता है? सामाजिक चिंतन से हम एक विशेष समाज के एक सुनिश्चित वैचारिक-सांस्कृतिक परिमंडल (distinct ideological cultural category) को ही समझते हैं–जिसके अंदर विभिन्न परस्पर विरोधी विचारधाराओं और सोच-विचारों का द्वन्द्व-संघात लगातार चल रहा है। यह द्वन्द्व-संघात क्यों चल रहा है, किस प्रकार चल रहा है–इसके बारे में किसी का चाहे जो भी तत्व-सिद्धांत क्यों न रहे, फिर भी एक सामाजिक चिंतन के परिमंडल (category) के अंतर्गत ही बहुत तरह के चिंतन रहते हैं–शायद इस पर कोई दो मत नहीं। एक ही परिस्थिति या परिवेश के अंतर्गत तरह-तरह के सोच-विचारों, विचारधाराओं और उनके बीच द्वन्द्व-संघर्षों को लेकर ही हम सामाजिक चिंतन का एक परिमंडल समझते हैं। सभी के चिंतन में उसी सामाजिक चिंतन का व्यक्तीकरण (personification) हो रहा है। इस व्यक्तिकृत सामाजिक चिंतन को ही हम व्यक्ति-चिंतन (individual thinking) कहते हैं। शंकराचार्य का चिंतन भी इसी प्रकार निर्मित हुआ है। ईसा मसीह का चिंतन भी इसी प्रकार निर्मित हुआ है। मोहम्मद का चिंतन भी इसी प्रकार निर्मित हुआ है। राजा राममोहन राय, नजरूल, शरतचन्द्र, रवीन्द्रनाथ तथा विभिन्न राजनीतिक चिंतकों का चिंतन भी इसी प्रकार

* पश्चिम बंगाल के तत्कालीन मुख्यमंत्री श्री अजय मुखर्जी, जो उस सभा में उपस्थित थे।

निर्मित हुआ है। इससे बाहर जाने का कोई उपाय नहीं है। मनुष्य के मस्तिष्क के साथ सामाजिक परिवेश एवं बाहरी प्रकृति के द्वन्द्व द्वारा यह सीमित है। इसलिए मैं कह रहा था कि यह जो मनुष्य का विचार जगत है, अर्थात मनुष्य का चिंतन और भावना-धारणा का जगत है, यह वस्तुसत्ता से ही निर्मित हुआ है, भौतिक परिवेश के अनुसार ही निर्मित हुआ है—फिर भौतिक परिवेश के साथ यह द्वन्द्व-संघर्षरत भी है। ऐसी बात नहीं है कि उत्पादन के साधन और जीवन यापन की पद्धति बदल रही है और साथ-ही-साथ मानव-मन और उसकी भावनाएं भी अपने आप बदलती जा रही हैं। इस प्रकार की धारणा गलत है। यह मामला इस तरह का यांत्रिक नहीं है। दोनों का संबंध द्वन्द्वात्मक है। हालांकि भौतिक उत्पादन के ऊपरी ढांचे (Super Structure) के रूप में ही मनुष्य का भावात्मक उत्पादन (spiritual production)—विचार-जगत का निर्माण हुआ है, सामाजिक चिंतन पैदा हो रहा है; फिर विचार-जगत एवं सामाजिक चिंतन भी भौतिक परिस्थिति के परिवर्तन के क्रम में लगातार अपना प्रभाव डालता आ रहा है। लेकिन किसी भी हालत में मनुष्य का विचार-जगत एक विशेष भौतिक परिवेश (given material condition) का अतिक्रमण नहीं कर सकता—उस सीमा को पार नहीं कर सकता। इसलिए अतीत के किसी मनीषी द्वारा आधुनिक चिंतन और भावना-धारणाओं को जन्म देना संभव नहीं हुआ।

बहुतेरे लोगों की धारणा यह है कि अतीत में मनीषी लोग जिन सब मतों की सृष्टि कर गये हैं, चूंकि उन्होंने मानव कल्याण की बात सोचकर ही किया है और चूंकि उनके दिल में समस्त मानवों के लिए ही हमदर्दी थी, लिहाजा वे सारे मत ही मानवतावाद (humanism) हैं। आजकल अनेक प्रगतिशील सिद्धांतकारों को भी इस तरह की बातें कहते सुना जाता है। कुछ दिनों पहले तक तो सैद्धांतिक चर्चा करने वाले प्रगतिशील सिद्धांतकारों को कम-से-कम इस तरह के ऊल-जलूल मंतव्य करते नहीं सुना। लेकिन, आजकल बहुत सारे सिद्धांतकारों के मुंह से सुनता हूं, जैसे कि मानवतावाद तो अतीत काल से ही है! मैं कहना चाहता हूं कि यह धारणा पूर्णतः भ्रांत और अनैतिहासिक है। मनुष्य के विचार-जगत के इतिहास में मानवतावाद और मानवतावादी विचार कहने से सामाजिक विकास के एक विशेष स्तर के एक विशेष

वैचारिक परिमंडल को ही समझा जाता है। लगता है कि इन सब पण्डितों ने मानवीय विचारधारा (human ideology) और 'मानवतावाद' को गड्डमड्ड कर डाला है। इनको समझना चाहिए था कि जो कुछ मानवीय है, वही मानवतावाद नहीं है (Anything humane is not humanism)। हालांकि मानव समाज में जब भी कोई विचारधारा और आदर्श पैदा हुआ है, वह मानव के लिए ही हुआ है। उसे मुहम्मद ने पैदा किया हो, चार्वाक मुनि ने पैदा किया हो, कपिल मुनि या फिर शंकराचार्य ने ही क्यों न पैदा किया हो, मानव समाज में मानव के लिए ही पैदा किया गया है। इस मायने में ये सभी मानवीय मतादर्श है। किंतु पूंजीवादी क्रांति ने जिस बुर्जुआ मानवतावाद को जन्म दिया, उस मानवतावाद और अतीत के मानवीय मतादर्शों में बुनियादी फर्क है। इस फर्क के विभिन्न पहलुओं पर विस्तृत चर्चा में न जाकर केवल एक बात को रखने पर ही इस फर्क का स्वरूप स्पष्ट हो जायेगा।

मानवतावाद से पहले के निर्मित हुए प्राय: सभी विचार ईश्वरीय या आध्यात्मिक (spiritual) या धार्मिक मूल्यबोधों (riligious values) पर आधारित थे। अर्थात सभी मनुष्य ईश्वर की संतान हैं। इसलिए उन सारे मतादर्शों की मूल बात सभी मनुष्यों के प्रति प्रेम और ममत्वबोध थी। ईश्वर की स्वीकृति से ही कुछ मूल्यबोधों की सृष्टि–जिसे दर्शन की भाषा में हम पूर्व निर्धारित नीतिबोध (priory values) कहते हैं। मानवतावाद अर्थात बुर्जुआ मानवतावाद ने उस समय जिन मूल्यबोधों को जन्म दिया था, वे मूलत: मानव को केन्द्र करके निर्मित हुए थे। उन दिनों मनुष्य का यथार्थ प्रयोजन और सामाजिक चेतना की स्वीकृति ही उन मूल्यबोधों का केन्द्र बिंदु थी। मानव समाज में पहले-पहल यही मानवतावाद धार्मिक विचारधारा और अतिप्राकृतिक सत्ता की स्वीकृति से पैदा हुए मूल्यबोधों के विरुद्ध धर्मनिरपेक्ष (secular) एवं जनतांत्रिक भावना-धारणा और मूल्यबोध लाया था। 'सेक्युलर' शब्द का अर्थ होता है–पार्थिव। इसलिए तमाम पार्थिव, अर्थात वस्तुनिष्ठ चिंतनों का जन्म किसी भी अतिप्राकृत सत्ता की अस्वीकृति से होता है (All secular concepts start with the non-recognition of any supernatural entity)। लेकिन हमारे देश भारत में धर्मनिरपेक्ष राज्य का अर्थ आज कर दिया गया है–तमाम धर्मों को समान रूप से प्रोत्साहन

देना। इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि ऐसा होने के पीछे हमारे मुल्क के राजनीतिज्ञों, चिंतकों और राजनीतिक नेताओं का सम्मिलित प्रयास रहा है। अन्यथा या तो हम अनजाने में गलती कर रहे हैं या फिर जानबूझकर भुला बैठे हैं कि धर्मनिरपेक्ष राज्य-गठन की धारणा ही राजसत्ता, सामाजिक जीवन, आर्थिक जीवन, राजनैतिक आन्दोलन, सांस्कृतिक आन्दोलन—सभी कुछ को चर्च के प्रभाव से या धर्म के प्रभाव से मुक्त करने के लिए तैयार हुई थी। जीवन संबंधी धर्मनिरपेक्ष जनतांत्रिक ध्यान-धारणाओं और धर्मनिरपेक्ष मानवतावाद का आधार यही है। कांग्रेसी राजनेताओं और बुर्जुआ चिंतकों की बात तो समझ में आती है, लेकिन बहुत सारे तथाकथित मार्क्सवादी और कम्युनिस्ट नेताओं के चिंतन, सोच-विचार, प्रतिदिन के आचरण और धार्मिक अनुष्ठानों को लगातार बढ़ते पृष्ठपोषण के जरिये धर्मनिरपेक्षता के बारे में जो धारणा प्रकट हो रही है, उसे देखकर सचमुच अवाक् हो जाना पड़ता है। इन सब नेताओं ने हमारे देश में धर्मनिरपेक्ष राज्य का जो अर्थ ठहराया है, उससे किसी भी चिंतनशील व्यक्ति के मन में स्वाभाविक तौर पर ही एक प्रश्न पैदा होगा। वह यह कि एक विशेष राज्य—पाकिस्तान को हम इस्लामी राज्य, धार्मिक राज्य (Islamic Theocratic State) कहेंगे; क्योंकि वह इस्लाम धर्म का पृष्ठपोषण करता है। लकिन अगर सभी धर्मों को संरक्षण एवं प्रोत्साहन देना ही भारतीय राजसत्ता का काम हो, तो इसे एक बहुधर्मीय राज्य (multi theocratic state) के सिवा और क्या कहा जायेगा?

धर्मनिरपेक्ष जनतंत्र (secular democracy) का सिद्धांत क्या है? अर्थात धर्मनिरपेक्ष जनतांत्रिक जीवन-पद्धति के मूल सिद्धांत (principles) कौन-से हैं? मैं समझता हूं, इससे कोई इनकार नहीं करेंगे कि धर्मनिरपेक्ष धारणा या जीवन के धर्मनिरपेक्ष सिद्धांतों के निर्माण में शिक्षा एक बहुत ही महत्वपूर्ण भूमिका अदा किया करती है। तब तो यही स्वाभाविक है कि एक धर्मनिरपेक्ष राज्य में शिक्षा हमेशा धार्मिक मूल्यबोधों के विरुद्ध धर्मनिरपेक्ष मूल्यबोधों को बुलंद करेगी। यदि हम सचमुच भारत को एक धर्मनिरपेक्ष राज्य की मर्यादा देना चाहते हैं, तो शिक्षा व्यवस्था को अवश्य ही धार्मिक विचारधारा के प्रभाव से पूरी तरह मुक्त करना होगा। परंतु असल में हमारे अपने इस तथाकथित

'धर्मनिरपेक्ष' राज्य में हम क्या देख रहे हैं? शिक्षा-व्यवस्था को धार्मिक प्रभाव से मुक्त करने की बात तो दूर रही, उल्टे शिक्षा व्यवस्था में धार्मिक प्रभाव की, शैक्षणिक आयोजनों में धार्मिक आचार-अनुष्ठानों की भरमार होती है, यहां तक कि पाठ्य-पुस्तकों में भी धार्मिक प्रचार दिनों-दिन लगातार बढ़ता जा रहा है। इसलिए जो लोग आज शिक्षा पद्धति और शिक्षा व्यवस्था के जनतंत्रीकरण की मांग पर आधारित आन्दोलनों का संचालन कर रहे हैं, उन्हें सबसे पहले दो बातों को साफ-साफ समझ लेना होगा। पहली बात यह है कि शिक्षा को धार्मिक विचारधारा से पूर्णतः मुक्त करना होगा और दूसरी यह कि शिक्षा सुधार का दृष्टिकोण पूंजीवादी शोषण से मुक्ति के लिए मजदूर वर्ग और दूसरे तबकों के शोषित जनसाधारण की राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक क्षेत्र में रोज-रोज जो लड़ाइयां चल रही हैं—वक उनकी परिपूरक हैं या नहीं, इसे विचार करके देख लेना होगा। फिर इन्हीं दो कसौटियों के आधार पर विचार करके देखना होगा कि शिक्षा सुधार और शिक्षा व्यवस्था के जनतंत्रीकरण का उद्देश्य लेकर चलने वाला कोई आन्दोलन प्रगतिशील है या प्रतिक्रियावादी। हमारे देश में शिक्षा सुधार के लिए बहुत सारे आयोग बैठे हैं। उन सभी आयोगों ने शिक्षा व्यवस्था में सुधार के नाना पहलुओं की छोटी-बड़ी बातों पर सिफारिशों से पन्ने-पर-पन्ने भर डाले हैं। परंतु कभी भी उनके लिए यह संभव नहीं हुआ कि समस्या की असल जगह पर चोट करें। इसलिए देश के अंदर नैतिकता की गिरावट का असल कारण कोई भी नेता सही तौर पर नहीं समझ पा रहा है। बहुत सारे प्रबुद्ध व्यक्तियों व अनेक राजनीतिक नेताओं की धारणा है कि हम लोगों के आचरण में खामी है, इसलिए यह सब हो रहा है। लेकिन मैं उन्हें एक बात की याद दिलाना चाहता हूं—जो लोग ईमानदार हैं, जो लोग सचमुच समस्या को समझने की कोशिश कर रहे हैं, वे यही सोच रहे हैं कि लोग सही ढंग से आचरण नहीं कर रहे हैं। व्यक्तिगत आचरण विधि अब और नहीं रही—सचमुच ही नहीं रही, राजनीति में नहीं रही, शिक्षण संस्थानों में नहीं रही, प्रशासन में नहीं रही। सभी ऐसा महसूस कर रहे हैं, हम भी कर रहे हैं। लेकिन नहीं रही है, तो आखिर क्यों? अभी कुछ दिनों पहले तो आजादी की लड़ाई के वक्त आप नेताओं ने छात्रों को 'फ्लावर्स ऑफ बेंगल' कहा था और वे झुण्ड

के झुण्ड अपना 'कैरियर' छोड़कर, पीछे खींचनेवाली सारी बातों की अनसुनी कर, अपना सर्वस्व त्यागकर देश के लिए राजनीतिक आन्दोलन में कूद पड़े थे। छात्र उन दिनों शिक्षकों को आदर्श पुरुष समझते थे। फिर आज ऐसा क्यों नहीं समझते? वे छात्र कहां खो गये? तब क्या हमें यही बात मान लेनी होगी कि उस वक्त ईश्वर हम पर खुश थे, लिहाजा घर-घर में सपूतों को भेजते थे? और आज हमसे खफा हो गये हैं, इसलिए जितने कपूत हैं, उन्हें ही चुन-चुन कर हमारे घरों में भेज रहे हैं? निश्चय ही आप लोगों में कोई इस तरह नहीं सोचते। तो आखिर पूरे देश की मानसिकता कैसे खराब हो गयी? नैतिक मान क्यों नीचे गिरता जा रहा है? हम लोग तो नैतिक मान को बढ़ाना ही चाहते हैं। हम लोग तो कह रहे हैं–देश की रक्षा करो, मेहनत करो, ईमानदार बनो। लेकिन जितना ही कह रहे हैं 'ईमानदार बनो', 'मेहनत करो', लोग उतना ही मोटे अर्थ में प्रयोजनवादी होते जा रहे हैं। आखिर ऐसा क्यों?

इस संदर्भ में एक और विषय पर मैं चर्चा करना चाहता हूं। मैं देख रहा हूं कि आजकल हमारे मुल्क में प्रयोजनवाद (pragmatism) का प्रभाव, राजनीतिक आन्दोलन से लेकर सांस्कृतिक आन्दोलन के हर क्षेत्र में, दिनों-दिन बढ़ता जा रहा है। जिस प्रयोजन-तत्व या आवश्यकता की बात मार्क्सवाद और विज्ञान कहते हैं–यह प्रयोजनवाद इसके बिल्कुल उलट है। जीवन के हर क्षेत्र में आम तौर पर आज मोटे अर्थ में जिस प्रयोजनवाद का प्रभाव दिख रहा है, शायद वह मार्क्सवाद की विकृति से ही शुरू हुआ है। क्योंकि मैं तो तथाकथित प्रगतिशीलों, मार्क्सवादियों और समाजवादियों में ही यह भटकाव ज्यादा देख पा रहा हूं। अनेक मार्क्सवादी मार्क्सवाद के प्रयोजन-तत्व का प्रयोग करते हुए उसी दरम्यान मोटे अर्थ में प्रयोजनवादी हो गये हैं। तात्कालिक आवश्यकता मनुष्य के यथार्थ प्रयोजन को प्रतिबिम्बित कर रही है या नहीं, अर्थात वह सामाजिक प्रगति, मजदूर वर्ग की क्रांतिकारी चेतना और क्रांति की परिपूरक है या नहीं–यह सब विचार करके देखने की उन्हें फुर्सत नहीं है। मार्क्सवाद जिस प्रयोजन (necessity) की बात करता है, जिस प्रयोजन-तत्व की बात विज्ञान करता है, वह 'प्रयोजनबोध' प्रगति और समाज-कल्याण के हित में होता है।

वह प्रयोजनबोध जो समाज में वर्ग-संघर्ष के विकास और प्रगति के जरिये क्रांतिकारी चेतना की लगातार अभिव्यक्ति के रास्ते व्यक्ति के यथार्थ विकास और उन्नति का परिपूरक है–वही है मार्क्सवाद और विज्ञान के नजरिये से प्रयोजनबोध की स्वीकृति (recognition of necessity)। इस प्रयोजन के साथ व्यक्ति की फौरी जरूरत या प्रयोजनबोध का विरोध दिखाई दिया करता है। इस जरूरत या प्रयोजन के साथ कभी-कभी राजनैतिक पार्टी की तात्कालिक आवश्यकताओं का भी विरोध हो सकता है। वैसी हालत में हमें पार्टी की ऐसी आवश्यकताओं का दमन करना होगा। लेकिन राजनीतिक आन्दोलन से लेकर सांस्कृतिक आन्दोलन के लगभग हर क्षेत्र में आज जिस प्रयोजनवाद का असर फैलता जा रहा है, उसे संक्षेप में 'प्रैग्मेटिज्म' या निहायत निकृष्ट किस्म का प्रयोजनवाद कहा जा सकता है। आजकल पत्र-पत्रिकाओं में बहुत-से पंडितों को अक्सर यह चर्चा करते देखा जा रहा है–''वे बड़े युटोपियन (कल्पना-विलासी) हैं, उनकी एप्रोच (approach) थोड़ी प्रैग्मेटिक (pragmatic) होनी चाहिए।'' यह सब बातें सुनकर लगता है कि या तो ये जानते नहीं हैं कि प्रैग्मेटिज्म एक अति निकृष्ट किस्म का भाववादी दर्शन है या फिर जानबूझकर ऐसी गलती कर रहे हैं। 'प्रैग्मेटिक कन्सीडरेशन' (pragmatic consideration) शब्द को सीधे तौर से राजनीतिक परिभाषा में कहने पर उसका मतलब 'अपौरचुनिस्ट कन्सीडरेशन' (opportunist consideration) अर्थात अवसरवादी सोच-विचार ही ठहरता है। दरअसल इन लोगों ने 'प्रैक्टिकल' (practical) शब्द के साथ 'प्रैग्मेटिक' (pragmatic) शब्द को गड्डमड्ड कर डाला है। नहीं तो, इन्हें जानना चाहिए था कि विज्ञान की भाषा में जो 'प्रैक्टिकल कन्सीडरेशन' (practical consideration) (व्यावहारिक सोच-विचार) है, वह 'प्रैग्मेटिक एप्रोच' (pragmatic approach) (प्रयोजनवादी दृष्टिकोण) का बिल्कुल विरोधी है। यह सत्य को प्रतिबिम्बित नहीं करता, बल्कि यह तो प्रयोजन संबंधी गलत समझ है। यही प्रयोजनवाद देश का सर्वनाश कर रहा है। इस तरह के प्रयोजनवाद का बढ़ता हुआ प्रभाव हमारे समाज के लोगों को ज्यादा से ज्यादा आत्म-केन्द्रित बनाता जा रहा है तथा जन आन्दोलन की प्राणसत्ता को ही नष्ट किये जा रहा है।

इन विषयों पर चर्चा के जरिये मैं एक ऐसा मापदंड तय करने की कोशिश कर रहा हूं, जिससे सांस्कृतिक आन्दोलन की समस्याओं के स्वरूप को समझा जा सके। इन चर्चाओं से एक बात तो साफ जाहिर हो जाती है कि केवल व्यक्तिगत समझ के आधार पर निर्भर रहकर ही किसी आन्दोलन को–चाहे वह सांस्कृतिक आन्दोलन हो या राजनीतिक आन्दोलन–प्रगतिशील या प्रतिक्रियावादी करार दे देना गलत होगा। हमें इतिहास और वैज्ञानिक तर्क विचार की कसौटी पर तथा इतिहास और वैज्ञानिक तर्क-पद्धति के आधार पर प्राप्त अनुभवों से मिलाते हुए विचार करना होगा। यदि विचार की इस पद्धति का अनुसरण कर हम रवीन्द्रनाथ, शरतचन्द्र और नजरूल की संस्कृति की गति-प्रकृति और स्वरूप को निर्धारित करना चाहें, तो सबसे पहले हमें यह जानना पड़ेगा कि किस परिस्थिति में उस संस्कृति का जन्म हुआ था।

भारत में नवजागरण की सामाजिक-राजनैतिक पृष्ठभूमि और उसकी दो धाराएं

इतिहास और सामाजिक विज्ञान के तमाम छात्र जानते हैं कि पूंजीवाद के विकास के रास्ते ही सभी आधुनिक राष्ट्रों (nations) और राष्ट्रीय राजसत्ताओं (national states) की सृष्टि हुई थी। भारतीय राष्ट्रवाद की पैदाइश और विकास भी इस नियम का अपवाद नहीं है। आज हम जिसे देशप्रेम कहते हैं, ऐसे देशप्रेम को अस्तित्व में आये कोई लम्बा अरसा नहीं हुआ। अतीत के भारत में ऐसा देशप्रेम नहीं था। सामंती समाज-व्यवस्था में यह संभव भी नहीं था। चूंकि एक निर्दिष्ट भौगोलिक सीमा के अंदर जब तक राष्ट्रीय पूंजीवादी अर्थव्यवस्था का विकास नहीं हो जाता, तब तक इस प्रकार का देशप्रेम पैदा नहीं हो सकता। भारत ने पूरे देश के पैमाने पर केन्द्रीकृत अंग्रेजी शासन-व्यवस्था कायम होने के बाद ही तमाम उपराष्ट्रीयताओं (nationalities) को मिलाकर एक आधुनिक राष्ट्र के निर्माण की प्रक्रिया में प्रवेश किया। उसी समय से एक आधुनिक केन्द्रीकृत शासन-व्यवस्था को चलाने की गर्ज से पूरे देश के पैमाने पर रेल व सड़क यातायात व्यवस्था और संचार व्यवस्था का विस्तार होने लगा और इसी के नतीजतन स्थानीय

ग्रामीण अर्थव्यवस्था में धीरे-धीरे टूटन शुरू हुई और विभिन्न उपराष्ट्रीय अर्थव्यवस्थाओं को मिलाकर सम्पूर्ण देश के पैमाने पर एक व्यापार-वाणिज्य प्रणाली का निर्माण होने लगा। भारत में पहले-पहल इसी रास्ते एक राष्ट्रीय बाजार का सृजन होने लगा और राष्ट्रीय पूंजी का जन्म हुआ। आधुनिक यातायात व्यवस्था का विस्तार होना, विभिन्न उपराष्ट्रीय अर्थव्यवस्थाओं के बीच व्यापारिक एवं वाणिज्यिक लेनदेन, एक राष्ट्रीय बाजार की सृष्टि और पूंजीवाद के विकास ने भारत में उन तमाम उपराष्ट्रीयताओं के अंदर एक सम-स्वार्थ की भावना ला दी। फिर इसी आर्थिक और राजनीतिक सम-स्वार्थबोध ने भारत में एक राष्ट्रीय राजसत्ता स्थापित करने के उद्देश्य से ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध स्वतंत्रता आन्दोलन में तमाम उपराष्ट्रीयताओं को एक सूत्र में बांध दिया। इसलिए हम देखते हैं कि भारत में मराठी, बंगाली, ओड़िया, तमिल, तेलगु आदि किसी भी उपराष्ट्रीयता ने अपनी अलग राजसत्ता कायम करने के लिए अकेले अलग लड़ाई नहीं लड़ी। भारत में राष्ट्रीय भावना व चेतना का इस ढंग से विकास नहीं हुआ था। हो सकता था, मगर सिर्फ केन्द्रीकृत अंग्रेजी शासन के चलते नहीं हुआ। हां, ब्रिटिश साम्राज्यवाद-विरोधी संग्राम के माध्यम से भारत की तमाम उपराष्ट्रीयताओं को मिलाकर एक आधुनिक राष्ट्र-गठन की जो प्रक्रिया शुरू हुई, उसके अंदर शुरू से ही कुछ कमजोरियां रह गयीं। चूंकि ब्रिटिश साम्राज्यवाद-विरोधी राजनीतिक संघर्ष के कार्यक्रम के अंदर सामाजिक क्रांति और सांस्कृतिक क्रांति का कार्यक्रम सम्मिलित करने में हम नाकाम रहे, लिहाजा उसके नतीजे के तौर पर पूरे राष्ट्रीय आन्दोलन में अनेक कमजोरियां रह गयीं। राष्ट्रीय आन्दोलन को हम धार्मिक भावना-धारणा से पूरी तरह मुक्त करने में समर्थ नहीं हुए। तभी तो आजादी हासिल होने के बाद राजनैतिक तौर पर एक आधुनिक राष्ट्र के रूप में गठित हो जाने के बावजूद हमारे देश की जनता भाषा, धर्म, संस्कृति और आचार-विचार के आधार पर अलग-अलग समुदायों (communities) में बंटी रह गयी और जीवन का एक समरूप जनतांत्रिक तौर-तरीका और आचरणबोध (uniform democratic principle of life) विकसित होने के बजाय हमारी राष्ट्रीय चेतना में एक उपराष्ट्रीयता बोध की मानसिकता (mental complex) घुलमिल गयी।

हमारे देश में ऐसा होने का मुख्य कारण था स्वतंत्रता आन्दोलन के नेतृत्व का भारत के राष्ट्रीय बुर्जुआ वर्ग के हाथों में रहना। भारत में पूंजीवाद का विकास और राष्ट्रीय स्वतंत्रता आन्दोलन का विकास एक ऐसे वक्त में हुआ, जब विश्व पूंजीवाद अपना सारा प्रगतिशील चरित्र खोकर प्रतिक्रियावादी क्षयोन्मुख अर्थात मरणासन्न पूंजीवाद में तब्दील हो चुका था। भारतीय राष्ट्रीय पूंजीवाद-साम्राज्यवाद विरोधी होते हुए भी, उस क्षयोन्मुख विश्व-पूंजीवाद का ही हिस्सा था। इसलिए पूंजीवादी क्रांति के युग में पूंजीवाद का जो क्रांतिकारी चरित्र था, मरणासन्न पूंजीवाद और साम्राज्यवाद के युग में भारतीय पूंजीवाद का वह क्रांतिकारी चरित्र अब और नहीं रह गया था। इसलिए भारत के राष्ट्रीय बुर्जुआ लोग हालांकि साम्राज्यवाद-विरोधी स्वतंत्रता आन्दोलन को नेतृत्व दे रहे थे, फिर भी अंतर्राष्ट्रीय प्रतिक्रियावादी बुर्जुआ वर्ग का हिस्सा होने के नाते उनका चरित्र क्रांतिकारी नहीं था, बल्कि बुनियादी तौर पर वे साम्राज्यवाद के विरुद्ध सुधारपंथी विरुद्धवादी (refomist oppositional) चरित्र के हो गये थे। इसलिए स्वतंत्रता आन्दोलन के दौरान बुर्जुआ मानवतावादी दृष्टिकोण के मामले में हमें दो परस्पर विरोधी धाराएं दिखाई देती हैं। एक धारा थी साम्राज्यवाद और सामंतवाद के साथ समझौतापरस्त रुझान लिये हुए—यही पूरे आन्दोलन में प्रधान (dominant) धारा थी और दूसरी थी साम्राज्यवाद और सामंतवाद के विरुद्ध समझौतारहित संघर्ष की धारा।

अब यदि राममोहन राय से लेकर नजरूल तक सांस्कृतिक आन्दोलन की धारा और गति-प्रकृति की समीक्षा करके देखें, तो आप पायेंगे कि मानवतावादी चिंतन-भावना की ये दोनों धाराएं इस देश के तत्कालीन साहित्यिक चिंतन में भी उसी रूप में प्रतिबिम्बित हुई हैं। शरतचन्द्र, नजरूल और रवीन्द्रनाथ—इन तीन व्यक्तियों को लेकर हम भारत में मानवतावादी विचारधारा का एक पूरा परिमंडल (category) पाते हैं। अगर सांस्कृतिक विचारधारा के इस पूरे परिमंडल का विश्लेषण करें, तो देखेंगे कि इसके अंतर्गत दो धाराएं मिली हुई हैं। एक धारा है जो अज्ञेयवादी (agnostic) है—ईश्वर है या नहीं, इस पर वह बहस नहीं करती है, किंतु ईश्वर में विश्वास नहीं है, मूल रुझान वस्तुनिष्ठ एवं भौतिक जगत में विश्वास करने का है। इसलिए इस

धारा का दृष्टिकोण मूलत: 'सेक्युलर' है। साहित्य-चिंतन में इस धारा का प्रतिनिधित्व शरतचन्द्र और नजरूल ने किया है। दूसरी धारा है, जिसने मानवतावाद के मूल्यबोधों को धार्मिक परम्परा के साथ मिश्रित कर देना चाहा है—उस धारा का प्रतिनिधित्व मूलत: रवीन्द्रनाथ ने किया है। हमारे मानवतावादी आन्दोलन ने जब विराट आकार धारण किया—तब हमारे देश के साहित्यिक एवं दार्शनिक चिंतन में हम इन दोनों धाराओं या रुझानों को ही प्रतिबिम्बित होते देखते हैं। भारत में आखिर ऐसा क्यों हुआ? पूरे मानवतावादी आन्दोलन के अंतर्गत हम ये दो धाराएं क्यों पाते हैं? एक समझौतारहित 'सेक्युलर', अज्ञेयवादी और यौवनोद्दीप्त मानवतावादी धारा, जिसके अंतर्गत शेक्सपियर के समय के या 'रेनेसां (नवजागरण) काल के मानवतावादी आन्दोलन का क्रांतिकारी स्वर गूंज रहा है, शरतचन्द्र और नजरूल में हम उसकी झलक देख पाते हैं। जबकि दूसरी धारा में थे रवीन्द्रनाथ, जो पूरे मानवतावादी आन्दोलन में साहित्य-साधना के क्षेत्र में अगुआ थे और सम्पूर्ण साहित्य-जगत पर उन दोनों से कहीं अधिक व्यापकता लिये छाये हुए थे—उनकी भावना-धारणा और विचारधारा में वह यौवनोद्दीप्त एवं क्रांतिकारी तेवर (fervour) नहीं है। उन्होंने भी मानवतावादी चिंतन और मूल्यबोध के उसी स्वर को ही प्रतिध्वनित किया है—स्वतंत्रता (liberty) की वही धारणा एवं मनुष्य को केन्द्रकर विकसित हुई मानवतावादी मूल्यों के प्रति वही सम्मान और मुक्ति (freedom) का वही जयगान—सभी कुछ उनकी रचनाओं में मौजूद है। फिर भी इसी के साथ बहुत ही सूक्ष्म रूप में भारतीय परम्परावाद और धार्मिक मूल्यबोध भी घुले मिले हुए हैं। इसके द्वारा मैं धर्म या धर्मान्धता की बात सतही अर्थ में नहीं कह रहा हूं। मैं जो कहना चाह रहा हूं, वह यह है कि रवीन्द्रनाथ के अंदर अध्यात्मवाद (spiritualism) के साथ मानवतावादी मूल्यबोधों का एक सम्मिश्रण हुआ है और इसी सम्मिश्रण के फलस्वरूप इस देश का मानवतावाद जराग्रस्त एवं पंगु हुआ है।

राजनीतिक आन्दोलन में भी हमने जनतंत्र की भावना-धारणाओं के साथ धार्मिक और सामाजिक कुसंस्कारों का एक विचित्र समझौता कर लिया है। धर्म के खिलाफ हमने संग्राम नहीं किया। राष्ट्रवाद और राष्ट्रीयताबोध के नये विचारों और आदर्शों को धर्म से मुक्तकर नयी

विचारधारा को हम सामने नहीं ला पाये। नतीजा यह हुआ कि हमारा राष्ट्रवाद बुनियादी तौर पर धर्मोन्मुखी राष्ट्रवाद (religion oriented nationalism) होकर रह गया। फिर ऐसी परिस्थिति में स्वाभाविक तौर पर ही यह हिंदू धर्मोन्मुख राष्ट्रवाद बन गया और यही वास्तविक कारण था कि स्वतंत्रता आन्दोलन को जिन्होंने नेतृत्व दिया और चाहे जितने भी सुंदर ढंग से जनतांत्रिक भावना-धारणाओं की बातें कही हों, परंतु वे भारतीय मुसलमानों के दिल को न छू सकीं। जो लोग महान व्यक्तित्व के धनी थे, जिन्हें व्यक्तिगत रूप में मुसलमानों से कोई शत्रुता नहीं थी—जैसे गांधीजी—वे लोग बहुत सारे मुसलमानों को व्यक्तिगत तौर पर आन्दोलन में खींच लाये। जैसे अब्दुल गफ्फार खां, जिन्हें हम सीमांत गांधी कहते हैं, डा. खां साहब, मौलाना अबुल कलाम आजाद तथा और भी बहुतेरे जाने-माने मुसलमान राष्ट्रीय स्वतंत्रता आन्दोलन में आये। लेकिन हम पूरे मुसलमान समुदाय को आंदोलित नहीं कर पाये। हम उनकी शंकाओं को दूर नहीं कर पाये। क्यों नहीं कर पाये? और क्या, सिर्फ इतना ही? हम हिंदू समाज की जात-पांत तक को दूर नहीं कर पाये। इसलिए तथाकथित निम्न जातिओं के हिन्दुओं को भी आजादी आन्दोलन में शामिल नहीं कर पाये। राष्ट्रीय स्वतंत्रता संघर्ष तथा राजनैतिक लड़ाइयों के जरिये इतना बड़ा एक राष्ट्रीय उभार आया, परंतु उसकी चोट से सामाजिक क्रांति के कार्यक्रम को भी हम पूरा नहीं कर पाये। अत: 'सिड्युल कास्ट फेडरेशन' ने जन्म लिया। राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व मूलत: ब्राह्मणों, कायस्थों व अन्य सवर्ण हिंदुओं के हाथों में था। मैदानों की सभाओं में हम 'कॉमरेड' होकर शामिल होते और लड़ाई लड़ने जाते, लेकिन अपने घर के अंदर हरिजनों और मुसलमानों को फटकने भी नहीं देते थे। तुम हरिजन हो, मैं ब्राह्मण हूं, तुम्हारे लिए मैं जान दे सकता हूं, हम दोनों कॉमरेड हैं, स्वाधीनता संग्राम के सेनानी हैं, जनतांत्रिक भारत के लिए लड़ रहे हैं, लिहाजा हम मैदान में एक साथ भाषण दे सकते हैं, एक दूसरे के लिए जान दे सकते हैं, लेकिन खबरदार! तुम्हें मेरी बेटी से प्रेम करने का अधिकार नहीं है। तुम्हारे साथ मेरी बेटी का विवाह हरगिज नहीं हो सकता। उसकी शादी तो जाति देखकर ही करनी होगी। हां, व्यक्तिगत तौर पर दो-चार नेता इसके अपवाद थे, जो इससे मुक्त

थे। गांधीजी, सी.आर. दास, सुभाषचन्द्र बोस जैसे कई नेता और विशिष्ट व्यक्ति इससे मुक्त थे, पर क्या यही काफी था? उन्होंने तो इस जात-पांत को तोड़ने की सचमुच ही कोशिश की थी। वे चाहते थे कि 'अछूतों' के साथ विभिन्न जातियों का अंतर्जातीय विवाह हो। गांधीजी ने व्यक्तिगत तौर पर अपने शिष्यों में इसे चालू करना चाहा था। लेकिन उससे क्या होगा? सामाजिक आन्दोलन में उसका कितना प्रभाव था? स्वतंत्रता आन्दोलन में जो लोग झुण्ड-के-झुण्ड सिपाही के रूप में शामिल हुए या जिन लोगों ने आन्दोलन को नेतृत्व प्रदान किया, उनके अपने जीवन में उसका कितना प्रभाव पड़ा? क्योंकि राष्ट्रीय मानसिकता के अंदर पड़ी इस गांठ को खोलने के लिए, सैद्धांतिक पहलू से सम्पूर्ण वैचारिक आन्दोलन ने उसे जड़ से हिलाया-डुलाया नहीं। इस काम के लिए—देश की इस कूपमण्डूकता और सामंती भेदभाव एवं विचारधारा को पूरी तरह ध्वस्त कर डालने के लिए—सबसे पहले जरूरी था कि आजादी आन्दोलन के समय राजनैतिक क्रांति के कार्यक्रम में सामाजिक और सांस्कृतिक क्रांति के कार्यक्रम को शामिल किया जाता। परंतु चूंकि पूरे आन्दोलन का नेतृत्व सुधारवादी राष्ट्रीय बुर्जुआ वर्ग के हाथों में था, इसलिए यह काम करना मुमकिन न हो सका।

अत: राजा राममोहन राय जिस विचारधारा को लाये, विद्यासागर जिसे कुछ कदम और आगे बढ़ा गये और शरत्-नजरूल ने जिस सामाजिक और सांस्कृतिक क्रांति के झण्डे को ऊंचा उठाया, हमने उसे राजनीतिक आन्दोलन में अवहेलनापूर्वक फेंक दिया। हम एकतरफा राजनीतिक आन्दोलन के नशे में इतना डूब गये कि सामाजिक और सांस्कृतिक क्रांति के झंडे को फेंक दिया। हमारे देश के सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक आन्दोलन की यह कमजोरी, जिसे हम रवीन्द्रनाथ और गांधीजी की विचारधारा में पाते हैं, उसका कारण यह नहीं था कि वे व्यक्तिगत रूप में कमजोर थे या उनमें प्रतिभा की कमी थी। इस तरह विचार करने से तो समस्या की गंभीरता को छोटा करके देखना होगा। क्योंकि इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि ये दोनों ही व्यक्ति महान प्रतिभा वाले थे। फिर भी उनकी विचारधारा में इस कमजोरी की वजह यह थी कि उनके माध्यम से जिस वर्ग की चिंतन-भावना का व्यक्तीकरण हुआ, अर्थात उन्होंने जाने या अनजाने

जिस वर्ग की भावना-धारणा का प्रतिनिधित्व किया, वह भारत का राष्ट्रीय बुर्जुआ वर्ग है; और जहां तक प्रगति का प्रश्न है, इस वर्ग की भावना-धारणा उस वक्त प्रतिक्रियावादी और क्षयोन्मुख हो चुकी थी, उसमें घुन लग चुका था और सामाजिक प्रगति के खिलाफ खड़ी थी। चूंकि, भारत का आन्दोलन अंतर्राष्ट्रीय वैचारिक आन्दोलन से कोई बिल्कुल अलग आन्दोलन नहीं था, इसलिए अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में वर्ग-संघर्ष के आधार पर जो वैचारिक संघर्ष चल रहा था एवं वैचारिक क्षेत्र में बुर्जुआ मानवतावाद उस समय जिस पतनशील दशा में पहुंच चुका था, भारतीय राष्ट्रीय बुर्जुआ वर्ग के लिए ऐतिहासिक कारणवश ही यह संभव नहीं था कि वह अपने को उसके असर से दूर रख सके।

याद रखें, पूंजीवादी क्रांति—जिसे अपनी परिभाषा में हम जनतांत्रिक क्रांति, बुर्जुआ जनतांत्रिक क्रांति या राष्ट्रीय जनतांत्रिक क्रांति कहते हैं—के युग में उस क्रांति के परिपूरक के रूप में ही मानवतावादी बुर्जुआ भावना-धारणाओं का जन्म हुआ था। लिहाजा उस वक्त मानवतावादी भावना-धारणाएं क्रांतिकारी थीं। सामंती व्यवस्था को ध्वस्तकर व्यक्तिगत सम्पत्ति और व्यक्तिगत मालिकाने के आधार पर उत्पादन पद्धति और उत्पादन व्यवस्था में क्रांतिकारी परिवर्तन लाने के उद्देश्य से पूंजीवादी क्रांति संगठित हुई थी। अत: इस अर्थ में इसे व्यक्ति के विकास की क्रांति भी कहा जा सकता है। इस क्रांति ने बुर्जुआ समानाधिकार, व्यक्ति-स्वतंत्रता एवं मुक्ति के नारों को आधार बनाकर हर तरह के धार्मिक और सामाजिक अंधविश्वासों के विरुद्ध अथक संघर्ष चलाया था, चर्च के आधिपत्य को तोड़ा था, भूदासों को मुक्त किया था, मानव को व्यक्तिगत रूप में आजादी दी थी और नारी को आजादी दी थी। इसलिए बुर्जुआ वर्ग की विचारधारा होते हुए भी उस समय मानवतावाद क्रांतिकारी था। देश में राष्ट्रीय राजसत्ता की स्थापना, जनतांत्रिक राज्य-व्यवस्था, व्यक्ति-स्वतंत्रता, नारी-स्वतंत्रता, तकनीकी की अभूतपूर्व तरक्की, कृषि के आधुनिकीकरण आदि के द्वारा उसने सामाजिक और आर्थिक जीवन में एक क्रांतिकारी परिवर्तन ला दिया था। लेकिन जनतंत्र के नाम पर बुर्जुआ वर्ग-शासन, व्यक्तिगत मालिकाने पर आधारित सामाजिक व्यवस्था और शोषणमूलक आर्थिक व्यवस्था

कायम होने के फलस्वरूप पूंजीवाद कुछ कदम आगे बढ़ने के बाद ही उनका शोषण करने लगा, जिन्हें एक समय उसने खुद ही सामंती बंधनों के जुए से मुक्त किया था। उनका शोषण करते-करते वह उनकी क्रयशक्ति को खत्म करने लगा और धीरे-धीरे एकाधिकारी पूंजीवाद को पैदा करने लगा। नतीजा यह हुआ कि कुछ अरसे में वह खुद अपना बाजार-संकट पैदा कर बैठा। ज्यों-ज्यों एकाधिकारी पूंजीवाद का जन्म होता गया, त्यों-त्यों उसका बाजार-संकट पैदा होता गया और वह विदेशी बाजारों की ओर हाथ बढ़ाने लगा। पूंजीवाद का यह अटल नियम है। पहले-पहल जब वह अस्तित्व में आता है, तो मानवतावाद एवं जनतांत्रिक चेतना के आधार पर राष्ट्र निर्माण के उद्देश्य से राष्ट्रीय चेतना लेकर आता है। सम्पूर्ण राष्ट्र की जीवन-शैली के आधुनिकीकरण के लिए वह राष्ट्रीय राजसत्ता और जनतंत्र की स्थापना का उद्देश्य लेकर आता है। लेकिन यह कायम हो जाने के साथ-साथ वह एकाधिकारी पूंजी को जन्म देता है और स्वयं अपना संकट बुला बैठता है तथा साथ ही विदेशी बाजारों की ओर हाथ बढ़ाता हुआ 'कॉस्मोपोलिटनिज्म' की ओर बढ़ता है और साम्राज्यवाद को जन्म दे डालता है। **इस प्रकार जब से विश्व पूंजीवाद ने साम्राज्यवाद का रूप ग्रहण कर लिया अर्थात पूंजीवादी क्रांति ने जब अपना क्रांतिकारी चरित्र खो दिया और प्रतिक्रिया में तब्दील हो गयी, पूंजीवाद जब से सामाजिक प्रगति में रोड़ा बन गया तथा तकनीकी विज्ञान (technology) एवं उत्पादिका शक्ति का ह्रास करने लगा, आर्थिक क्षेत्र में ठहराव (stagnation) का रुझान हावी होने लगा–उसी समय से अतीत का बुर्जुआ मानवतावाद भी धर्म और सभी तरह के अंधविश्वासों के प्रति समझौतापरस्त हो चुका है।**

भारत में पूंजीवाद का विकास, इस देश के राष्ट्रीयताबोध, व्यक्ति-स्वतंत्रता के चिंतन और मानवतावाद का जन्म विश्व पूंजीवाद की ऐसी ही प्रतिक्रियावादी और पतनशील स्थिति में हुआ। उसी के फलस्वरूप चूंकि इस देश में इनका आगमन विश्व पूंजीवादी वर्ग भावना-धारणा के अंश के रूप में ही हुआ, इसलिए हम इनके अंदर शुरू से ही दो धाराएं साथ-साथ मौजूद पाते हैं। जहां पूंजीवादी क्रांति के पहले दौर की क्रांतिकारी भावना-धारणाएं अर्थात रेनेसां (नवजागरण)

काल के क्रांतिकारी मानवतावाद की क्रांतिकारी भावना-धारणाएं आयीं, फिर उन्हीं के साथ क्षयोन्मुख पूंजीवादी युग का जराग्रस्त मानवतावाद—जो धर्म के साथ समझौता करना चाहता है, नस्ली विद्वेष (racialism) की ओर मुड़ना चाहता है, अध्यात्मवाद की ओर रुख किये जा रहा है—ये जराग्रस्त मानवतावादी भावना-धारणाएं भी आयीं। दोनों विचारधाराएं ही इस देश में आयीं।

आन्दोलन की दोनों धाराओं का प्रधान वर्ग चरित्र

एक है क्रांतिकारी यौवनोद्दीप्त मानवतावाद की चिंतनधारा जो नजरूल, शरतचन्द्र आदि के साहित्य में प्रकट हुई है और दूसरी है जराग्रस्त मानवतावाद की चिंतनधारा जो रवीन्द्रनाथ के काव्य-साहित्य और उनके वैचारिक जगत में मुख्य रूप से प्रगट होती दिखाई दी है। हालांकि हमारे देश के मानवतावादी चिंतन जगत में रवीन्द्रनाथ उन लोगों से कहीं ज्यादा व्यापकता लिये छाये हुए हैं। इसलिए जहां एक (शरत्) ने 'पथेरदाबी' अर्थात पथ के दावेदार की रचना की, दूसरे (रवीन्द्रनाथ) ने 'चार अध्याय' लिखी। एक ने कमल ('शेष प्रश्न' के नारी पात्र) की सृष्टि की, तो दूसरे ने लावण्य ('शेषेर कविता' के नारी पात्र) की। एक ने उदात्त स्वर में आह्वान किया कि तर्क के आधार पर जो कुछ पुरातन और प्रयोगातीत हो उसे तोड़ डालो, नैतिकता तर्कहीन नहीं हो सकती, कहीं भी एक ही जगह रुके रहने की गुंजाइश नहीं। यदि प्रगति के रास्ते कदम बढ़ाते जाना हो, तो मूल्यबोधों को भी लगातार आगे बढ़ाते जाना होगा। तुम रुक नहीं सकते। और, दूसरे ने यथास्थिति बरकरार रखनी चाही, शाश्वत सौन्दर्य की आड़ में एक ही जगह रुके रहना चाहा। इसलिए उनका प्रेम असल में 'लावण्य' के जीवन में विवाह का रूप नहीं ले पाता; क्योंकि वास्तविक जीवन उससे शत्रुता कर बैठता है। लिहाजा उनका प्रेम 'प्लेटॉनिक' या काल्पनिक है। वास्तविक जीवन में घरेलू कामों के लिए प्लेटॉनिक प्रेम करने वाला नायक विवाह करता है किसी और से जबकि उसका प्रेम-जिसे वह पवित्र और ईश्वरीय मानता है, छींके पर रखे रहने, मात्र कल्पना-विलास के लिए है। शरतचन्द्र मानते थे कि मनुष्य के स्नेह, प्रेम, प्रीति, प्यार जैसी अनुभूतियों को जीवन-संघर्ष और वर्ग-संघर्ष

सतत प्रभावित कर रहे हैं और रवीन्द्रनाथ प्रेम, प्रीति, प्यार जैसी अनुभूतियों को स्थान-काल से परे शाश्वत सौन्दर्य का दर्जा देना चाहते थे। इसलिए शरतचन्द्र यथार्थवादी (realist) थे, जिन्होंने जीवन को द्वन्द्व एवं घात-प्रतिघात के अंदर देख-परख कर समझना चाहा। वे जीवनद्रष्टा और रसस्रष्टा थे। इसलिए वे साहित्य-चिंतन के क्षेत्र में साम्राज्यवाद-विरोधी स्वतंत्रता की आकांक्षा और ज्वलंत देशप्रेम के मूर्तरूप थे। दूसरी तरफ रवीन्द्रनाथ तत्व-व्याख्या और अपूर्व रचनाशैली की आड़ में जीवन-संघर्ष से पलायन करना चाहते थे। तभी इतने बड़े प्रतिभाशाली (genius), बुद्धिमान एवं मनीषी होते हुए भी असल में वे पलायनवादी हो गये थे। इसलिए साहित्य-साधना के अधिकांश क्षेत्र में–यदि उन्हीं की भाषा में कहा जाये–तो वे ''बाजे कथार फूलेर चाष'' (अनर्गल बातों के फूलों की खेती) कर गये हैं। यद्यपि रवीन्द्रनाथ में स्वतंत्रता की आकांक्षा और देशप्रेम किसी से कम न था, तथापि साम्राज्यवाद के विरोध के प्रश्न पर उनका दृष्टिकोण उदारवादी था। मैं जानता हूं कि आज देश की जो मानसिकता है, उसमें मेरी यह बात हो सकता है, बहुतों के दिल को चोट पहुंचायेगी। परंतु मैं मजबूर हूं। मेरा फर्ज है कि जिसे मैंने सत्य समझा है, उसे निडरता से प्रकट करूं। आपमें से किसी के दिल को चोट पहुंचाना इस चर्चा का उद्देश्य नहीं है और रवीन्द्रनाथ को छोटा करना भी इसका मकसद नहीं है। मेरी बिसात ही क्या है उन्हें छोटा करने की और आखिर वह मैं चाहूंगा ही क्यों? मैं इस चर्चा द्वारा वस्तुतः यही दिखाना चाह रहा हूं कि रवीन्द्रनाथ, शरतचन्द्र और नजरूल के साहित्य-चिंतन में मुख्य वर्ग-चरित्र कौन-सा था। क्योंकि साहित्यकारों और दार्शनिकों के चिंतन में प्रधान वर्ग-चिंतन (dominant class thinking) को समझे बिना वर्ग-विभाजित समाज में किसी संस्कृति, किसी साहित्य या साहित्य-चिंतन का इतिहास एवं विज्ञान-संगत विश्लेषण और सही मूल्यांकन कर पाना असंभव है।

यह मैंने पहले ही दिखाया है कि **हमारे देश में नवजागरण काल में अर्थात स्वतंत्रता आन्दोलन और बुर्जुआ जनतांत्रिक क्रांति के युग में ऐतिहासिक कारण से ही राष्ट्रीय बुर्जुआ वर्ग का दृष्टिकोण साम्राज्यवाद और सामंतवाद के विरुद्ध मूलतः उदारवादी और सुधारपंथी विरुद्धवादी चरित्र का हो चुका था। इसलिए हमारे**

देश में पूंजीवादी क्रांति के पहले दौर के क्रांतिकारी विचारों की अभिव्यक्ति पेटी बुर्जुआ क्रांतिकारिता के उभार के जरिये हुई। रवीन्द्रनाथ और गांधीजी की विचारधारा में हम राष्ट्रीय बुर्जुआ वर्ग के उस उदारवादी, सुधारपंथी और समझौतापरस्त दृष्टिकोण की प्रधानता पाते हैं; जबकि पेटी बुर्जुआ क्रांतिकारी विचारधारा प्रकट हुई है, शरतचन्द्र, नजरूल और सुभाषचंद्र के चिंतन एवं कार्यप्रणाली के माध्यम से।

जो लोग आज भी अपने जीवन को रवीन्द्रनाथ और गांधीजी के विचारों पर ढालना चाहते हैं, वे यह विश्लेषण करके देखना नहीं चाहते कि उनके विचार दरअसल भारतीय पूंजीवाद के ही परिपूरक हैं। अर्थात मूल्यांकन करते समय वे लोग इस पर ध्यान नहीं देते कि उनकी भावना-धारणा का वर्गगत पहलू क्या है। क्योंकि, 'वर्ग संघर्ष', 'वर्ग चिंतन' और 'वर्गीय भावना-धारणा' ये सब मार्क्सवादी सिद्धांत के विषय हैं। अत: इनके मतानुसार ये सब कुछ भी नहीं हैं। वे समझते हैं कि असल में वर्ग-फर्ग कुछ भी नहीं हैं। बल्कि व्यक्ति और व्यक्ति-चिंतन ही सब कुछ है। हालांकि उन्हें पता नहीं है कि वर्ग-विभाजित समाज में (हमारा समाज भी एक वर्ग-विभाजित समाज है) किसी भी व्यक्ति का चिंतन हम चाहें या न चाहें, अनिवार्यत: किसी-न-किसी वर्ग-विशेष का ही चिंतन है। इस वास्तविकता को अस्वीकार करने से एक व्यक्ति अपने अनजाने ही जिस वर्ग की सेवा करना नहीं चाहता—उसी वर्ग-चिंतन का शिकार हो जा सकता है। मेरा मानना है कि गांधीजी के मामले में भी ऐसा ही हुआ है। इसलिए जिस वक्त लगभग सभी मार्क्सवादियों ने गांधीजी को एक स्वर में ढोंगी कहा, मैं उनसे सहमत न हो सका। गांधीजी के बारे में ऐसे विश्लेषण से मेरा विरोध था। उनके बारे मे मैं हमेशा यह मानता आया हूं और आज भी यही मानता हूं कि वे एक ईमानदार और अति शक्तिशाली व्यक्तित्व के अधिकारी पुरुष थे। नहीं तो बहुत सारे ईमानदार निष्ठावान लोग—जिनमें कोई भी बुरे आदमी नहीं थे, बल्कि वे लोग अपना सबकुछ न्योछावर कर सकते थे—उन्हें हमने अपनी आंखों से झुण्ड-के-झुण्ड गांधीजी के शिष्य होते देखा है! ढोंगी होने पर वे सारे देश को अपने पीछे इस प्रकार इकट्ठा करने में कतई कामयाब न

होते। गांधीजी की भूमिका की इतने आसान तरीके से अति सरलीकृत व्याख्या और विश्लेषण सचमुच उस वक्त क्रांतिकारी मजदूर आन्दोलन के तत्वगत एवं सैद्धांतिक नेतृत्व के दिवालियेपन का ही सबूत है। गांधीजी के बारे में ऐसी आसान और सतही व्याख्या के चलते उस वक्त हम लोग उनके नेतृत्व और वैचारिक प्रभाव से देश और जनसाधारण को बचा न पाये और इस तरह उन्हें बेबुनियाद छोटा करने की कोशिश में हम लोग खुद ही छोटे हो बैठे। परंतु गांधीजी के बदन पर तो एक छोटी-सी खरोंच तक लगाने में हम कामयाब न हो सके। गांधीजी के सिद्धांत के साथ मेरा विरोध उनसे तनिक भी कम न था। ये सारी बातें सच हैं कि गांधीजी के सिद्धांत से देश का सर्वनाश हुआ है, भारत के पूंजीवाद को सुदृढ़ करने का सुअवसर हाथ लगा। लेकिन गांधीजी ने जानबूझकर पूंजीपतियों की दलाली की–इस प्रकार के विश्लेषण को मैं अति सरलीकृत और गलत मानता हूं। मेरा मानना है कि गांधीजी अपनी मनगढ़ंत धारणा एवं विश्वास के मुताबिक वर्ग-संघर्ष के अस्तित्व को बिना कोई विश्लेषण किये नकारते गये। देश और जनता के कल्याण की बात सोचते हुए अपनी विचारधारा और कार्य-पद्धति द्वारा अपने अनजाने ही उन्होंने दरअसल जिस वर्ग के चिंतन और स्वार्थ को प्रतिबिम्बित किया, वह है भारत का पूंजीपति वर्ग। हां, पूंजीपतियों ने इसे अपनी वर्ग-प्रवृत्ति (class instinct) से सहज ही पहचान लिया था। इसलिए उन लोगों ने उन्हें समर्थन दिया, आशीर्वाद दिया और हर तरह से मदद की। उन लोगों ने ठीक ही समझा था कि यहां उनका कोई नुकसान होनेवाला नहीं है, बल्कि यह उनके लिए शुभ है। जबकि इतने बड़े प्रतिभाशाली व्यक्ति होकर भी गांधीजी खुद अपनी चिंतन-मनन क्रिया के वर्ग चरित्र को समझ नहीं पाये।

वर्गीय चेतना से लैस न होने पर किसी प्रतिभाशाली व्यक्ति के साथ ऐसा होना कोई नामुमकिन नहीं है और गांधीजी के मामले में भी यही हुआ। जैसे एक उदाहरण लें–हो सकता है, आप लोगों में से बहुतेरों के दिमाग में ऐसी बात हो कि आप अपने विचारों और आचरणों द्वारा किसी खास वर्ग के सोच-विचार और स्वार्थ को प्रतिबिम्बित नहीं करते। जबकि हर आदमी के हर पल के क्रियाकलाप

एवं विचार जाने या अनजाने किसी न किसी वर्ग की सहायता करते हैं। अगर आप वर्ग सचेत हैं, तो उसे जान सकते हैं; अन्यथा सारी बातें आपके अनजाने ही होती रहती हैं। मैं आशा करता हूं कि एक मिसाल से इस बात को समझने में बहुत कुछ सहूलियत होगी। एक मध्यमवर्गीय परिवार में पिता जब देखता है कि उसका बेटा राजनीति के पीछे दीवाना है, तो हर वक्त कहा करेगा, 'बेटे पहले अपना हित तो देख, परिवार की जिम्मेवारी तो संभाल। क्योंकि अगर हर इंसान अपना परिवार आप संभाल ले और परिवार को सुखी-सम्पन्न बना ले, तो देश का कल्याण होगा, क्योंकि एक-एक परिवार को लेकर ही तो राष्ट्र है!' फिर कोई पिता यदि कुछ ज्यादा तरक्कीपसंद है और उसमें थोड़ा-बहुत देशप्रेम भी है, तब बहुत अधिक हुआ तो अपने बेटे से कहेगा, 'बेशक, देश का काम करना तो अच्छा ही है। लेकिन पहले अपने पांवों पर तो खड़ा हो ले, फिर देश का काम करते रहना—चूंकि, 'जान है तो जहान' है। लेकिन उन्हीं सज्जन की अगर किसी वजह से नौकरी चली जाती है और नौकरी को बचाने की गर्ज से उन्हें यूनियन के पास दौड़ना पड़ता है, तब उन्हें यह समझदारी आने लगती है कि अकेले उनकी अपनी ताकत से तो नौकरी का फिर से पाना टेढ़ी खीर है। तब उनके मुंह से हम ठीक पहले की विपरीत बात सुनते हैं। तब वे अपने प्रति हुई बेइंसाफी के खिलाफ सभी को मिलकर लड़ने की जरूरत बताना शुरू करेंगे। क्योंकि, हार हो या जीत हो, बेइंसाफी के खिलाफ सबों का मिलकर लड़ना और मुखालफत करना जरूरी है। उस समय उनका कहना होगा—'सब मिलजुल कर कीजै काज, हारें-जीतें आवै न लाज'। हमारे देश में ये जो दो परस्पर विरोधी कहावतें बहुत दिनों से चली आ रही हैं—'जान है तो जहान है', 'सब मिलजुल कर कीजै काज, हारें-जीतें आवै न लाज'—जरूरत और वक्त के मुताबिक जो लोग इन्हें बोल जाते हैं, क्या वे लोग यह समझते हैं कि उनकी इस बात और इस प्रकार के आचरण से किस वर्ग के स्वार्थ का संरक्षण हो रहा है और वह किस प्रकार हो रहा है? अधिकांश लोग इसे नहीं जानते और इन सारी बातों पर सभी लोग ध्यान भी नहीं देते। नहीं तो वे बड़ी आसानी से देख पाते कि सब मिलजुल कर काम करें, चाहे हार हो या जीत ('सब मिलजुल कर कीजै काज, हारें-जीतें आवै न लाज')

इस कहावत का निर्माण तमाम लोगों के सामूहिक संघर्ष के स्वार्थ के परिपूरक के रूप में, अन्याय और शोषण के खिलाफ जन संघर्षों के दरम्यान हुआ है, जिस संघर्ष के बिना समाज का विकास और प्रगति असंभव है, अन्याय का प्रतिरोध असंभव है। इसलिए यह बात प्रगति के स्वार्थ की बात है। प्रगतिशील और शोषित वर्ग ने इस कहावत को अपने संघर्ष से, तजुर्बे से पैदा किया है।

प्रतिक्रियावादी, निहित स्वार्थ से चिपके रहने वाले जो लोग मौजूदा सामाजिक व्यवस्था को बदलना नहीं चाहते, वे अपने वर्ग स्वार्थवश चाहते हैं कि लोग बिखरे रहें, अपनी खिचड़ी अलग-अलग पकायें, एक दूसरे से न मिलें, प्रत्येक को आत्मकेंद्रित बना दिया जाये। इसके लिए प्रतिक्रियावादी लोग एक और ही बात, इस भावना और मानसिकता का परिपोषण करते हैं कि–'जान है तो जहान है'–'पहले सब कोई अपना-अपना देखो, क्योंकि सब व्यक्तियों को लेकर ही तो समाज है!' तो इससे पता चलता है कि ये दोनों कहावतें दो परस्पर विरोधी वर्ग मानसिकताओं और स्वार्थों को प्रतिबिम्बित करती हैं। लेकिन कितने लोग इसके प्रति सचेत हैं? ज्यादातर लोग यह नहीं जानते कि उनके हर क्षण के आचरण और भावना-धारणा को समाज के अंदर कोई न कोई दार्शनिक चिंतन ही गढ़ता रहता है। हर आदमी जिस कायदे से बातें करता है, जिस रुचि के अनुसार आचार-व्यवहार करता है, वे समाज के अंदर मौजूद दार्शनिक चिंतन-भावनाओं, आदतों और संस्कारों के रूप में उन तमाम आचार-व्यवहारों को हर पल प्रभावित किये जा रही हैं। इसलिए न जानते हुए भी प्रत्येक व्यक्ति के हर पल के क्रियाकलाप और विचार किसी-न-किसी दार्शनिक चिंतन से प्रभावित हैं। वर्ग-विभाजित समाज में हर दार्शनिक चिंतन किसी न किसी वर्ग का चिंतन होता है। लिहाजा हम वर्गगत चिंतन को दरकिनार करके नहीं चल सकते। यह बात एक दार्शनिक के लिए भी औरों की तरह सत्य है। इसलिए गांधीवाद के बारे में मैंने उस वक्त कहा था–''गांधीवाद गांधीजी की क्रांति की भयजनित मानसिक ग्रंथि और बुर्जुआ मूल्यबोधों के बीच मिश्रण की प्रक्रिया द्वारा पैदा हुई बुर्जुआ वर्ग-प्रवृत्ति का ही एक उदात्त किस्म का रूपान्तरण है।'' (Gandhism is a sublimatic transformation of bourgeois class instinct originated through the

process of fusion between senses of bourgeois moral values and the fear complexes of revolution of Gandhiji) अर्थात समाज की प्रगति और विकास के नियम को अस्वीकार कर वर्ग-विभाजित समाज में चूंकि गांधीजी ने तमाम लोगों की भलाई अर्थात दोनों वर्गों की एक साथ भलाई करने की ठानी थी। इसलिए जहां एक ओर बुर्जुआ नैतिक मूल्यबोधों के आग्रह ने उनके अंदर जनता के प्रति असीम ममता पैदा की थी, वहीं दूसरी ओर पूंजीपति वर्ग का क्रांति का डर भी साथ ही साथ उनके विचारों में अनजाने ही काम कर रहा था। नतीजा यह हुआ कि आम जनता की भलाई की बात लगन और ईमानदारी के साथ सोचते हुए भी उन्होंने जिस मतादर्श या विचारधारा—गांधीवाद को जन्म दिया, उसने वस्तुत: पूंजीपति वर्ग के स्वार्थ की ही रक्षा की और आज भी किये जा रहा है।

गांधीजी मानते थे कि शोषण, अत्याचार और मानव समाज की तमाम बुराइयों की जड़ लोभ, नीचता, कायरता और सर्वोपरि मनुष्य के प्रति मनुष्य में प्रेम का अभाव है। अत: वे सोचते थे कि समाज के अंदर लोगों को 'उदारता', 'नैतिक साहस', 'मनुष्य के प्रति मनुष्य के प्रेम का सिद्धांत' और 'निडर सत्याग्रही' मनोभाव द्वारा प्रेरित कर पाने पर ही इन समस्याओं का सही समाधान संभव है। गांधीजी के इस प्रकार सोचने-समझने का कारण यह था कि उन्होंने ईसाइयों के विपरीत शुरू से ही यह मान लिया था कि मनुष्य मूलत: भला (originally good) होता है। लेकिन चूंकि उसकी सद्‌बुद्धियों पर शैतान हावी है; इसलिए मानव समाज में आज शोषण, अत्याचार, लोभ, नीचता आदि का बोलबाला है। पर ऐसी सोच पूर्णत: अनैतिहासिक है। गांधीजी के इस प्रकार गुमराह होने का कारण उनका मानवतावादी मूल्यबोधों के साथ अध्यात्मवाद का घालमेल है। दर्शन शास्त्र के ईश्वर संबंधी इस अध्यात्मवादी सिद्धांत के संबंध में मैं दो-एक बातें कहना चाहता हूं। अगर आप थोड़ा गौर करें, तो पायेंगे कि वस्तुत: ईश्वर संबंधी ऐसी कोई अवधारणा है ही नहीं, जिसके साथ शैतान की धारणा भी न मिली हुई हो। इसकी वजह जानते हैं क्या है? वजह यही है कि आप जैसे सोचेंगे कि ईश्वर ही कर रहा है, सब कुछ भगवान की लीला है, 'सभी चिंतन ईश्वर के चिंतन-मनन हैं—चिंतन ईश्वर की

सृष्टि है। (Everything God contemplates-thinking is contemplation of God) तब तो साथ ही साथ यह भी मानना होगा कि मैं जो करता हूं, आप जो करते हैं, चोर जो कुछ करते हैं, बिड़ला जो करता है, जो लोग छंटनी करते हैं, जो लोग लूटते हैं–आखिर वे लोग स्वयं क्या करते हैं? क्योंकि सब कुछ तो भगवान ही उनके जरिये करवा रहे हैं! इस प्रकार सर्वशक्तिमान ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास करने से तार्किक निगमन (logical deduction) के फलस्वरूप यह हमें ऐसी एक विडम्बना में डाल सकता है–उसी से बचने के लिए यह शैतान की स्वीकृति ईश्वर के 'एण्टी थीसिस' (प्रतिपक्ष) के रूप में है। भला ईश्वर भी कभी यह सब शैतानियां कर सकता है? तो आखिर यह सब होता ही कैसे है? निश्चय ही यह सब शैतान का काम है। तो इस तरह हम देखते हैं कि केवल ईश्वर ही सर्वशक्तिमान नहीं है; इन सब की व्याख्या करने के लिए ईश्वर के समकक्ष 'एण्टी थीसिस' के रूप में फिर शैतान आया। इसलिए जिस तरह ईश्वर है, उसी तरह शैतान भी है। हालांकि हम देखते हैं कि ईश्वर में ऐसी क्षमता नहीं कि वह शैतान के हाथों से अपनी संतानों की रक्षा कर सके। शैतान के चंगुल से छुटकारा पाने की जिम्मेवारी तो उनकी संतानों की अपनी है–हां, मोक्ष प्राप्त होने का श्रेय-यश ईश्वर का है। यह तो एक अजीबो-गरीब बात है! ईश्वर के संबंध में प्राय: इसी तरह की अवधारणा में विश्वास रखने के कारण गांधीजी भी यह मान बैठे थे कि मनुष्य के अंदर सद्वृत्तियों को शैतान ने आछन्न कर रखा है। इसलिए इतनी सारी विपत्तियां हैं!

शोषणमूलक व्यवस्था ने ही लोभ की मानसिकता पैदा की है

गांधीजी यदि मनुष्य के दुनिया में आने के बाद से धीरे-धीरे उसके मस्तिष्क के विकास का इतिहास तथा उसकी मननशीलता एवं समाज के क्रमिक विकास के इतिहास की वैज्ञानिक तरीके से खोज करते–मनगढ़ंत धारणा के आधार पर यदि यह न मान बैठते कि मानव ईश्वर की सर्वोत्कृष्ट सृष्टि है, मनुष्य में चिंतन करने की जो क्षमता है, जो उसका मन है–उसके माध्यम से ही वह ईश्वर मनन (contemplate) करता है; यदि अपने व्यक्तिगत विश्वासों और व्यक्तिगत

मान्यताओं पर अकारण जोर न देते, बल्कि इसकी जगह इतिहास और विज्ञान को आधार मानकर मानव की मननशीलता का विकास विचार-जगत और नैतिकता के विकास और प्रगति एवं अध:पतन के इतिहास को समझने की कोशिश करते, तो यह सहज ही उनकी समझ में आ जाता कि समाज में लोभ, नीचता और शोषण की मनोवृत्ति इसलिए नहीं पैदा हुई कि इंसान की सद्‌बुद्धि पर शैतान हावी है, बल्कि इसके विपरीत शोषण व्यवस्था कायम होने पर ही अर्थात समाज में शोषण करने लायक अनुकूल परिस्थिति (material condition) आने के बाद ही मनुष्य की मानसिकता में शैतान का आविर्भाव हुआ। अर्थात लोभ, नीचता, शोषण की मनोवृत्ति का आविर्भाव हुआ। लोभ की मानसिकता ने शोषणमूलक समाज की रचना नहीं की, बल्कि शोषणमूलक व्यवस्था ही लोभ की मानसिकता को पैदा करती आयी है।

आदिम मानव समाज के इतिहास के कुछ पन्ने उलटने पर मेरी इस बात के सबूत मिल जायेंगे। मानव जब आदिम समाज में रहता था, उस युग के उन कबीलों का जितना भी इतिहास पाया गया है, उसमें हम क्या पाते हैं? उस काल के लोग क्या आज की तरह सभ्य इंसान थे? क्या वे मानवतावादी थे? उस जमाने के लोग रवीन्द्रनाथ के किसी विचार की कोई खबर नहीं रखते थे। गांधीजी की अहिंसा और सत्याग्रह के सिद्धांत से भी उन्हें कोई वास्ता नहीं था। उस समय उनकी मानसिकता लगभग जानवरों के स्तर की थी। जानवरों से उनका सिर्फ यही फर्क था कि जहां दूसरे-दूसरे जंतु-जानवरों की क्रियाएं हमेशा पूरी तरह प्राकृतिक नियम के अधीन 'सहज क्रिया' (reflex action- conditioned reflex and unconditioned reflex) से नियंत्रित होती हैं, वहीं चूंकि मानव के मस्तिष्क की संरचना उन्नत किस्म की होने के कारण उसके अंदर 'पावर ऑफ ट्रांसलेशन' (चिंतन प्रक्रिया की क्षमता) मौजूद है—इसलिए मानव-मस्तिष्क की क्रिया-प्रतिक्रिया में अनुभूति से पेशी संचालन क्रिया (sensation to motor action) से 'प्रॉसेस ऑफ ट्रान्सलेशन' के जरिये पहले प्रत्यक्ष ज्ञान और उससे फिर अवधारणात्मक ज्ञान (from perceptual knowledge to conceptual knowledge) हासिल करने का एक क्रम सदा काम करता रहता है। मस्तिष्क के संरचनागत इस फर्क के अलावा उस जमाने के कबीलाई

लोगों की मानसिकता और आचरण प्राय: जानवरों के स्तर पर ही थे। खाने के टुकड़े को लेकर लोग उस समय जानवरों की तरह ही आपस में छीना-झपटी, लड़ाई-झगड़ा और मार-पीट तक किया करते थे; जैसे गली के कुत्ते आपस में छीना-झपटी करके खाते हैं। लेकिन इसके बावजूद कबीले टूटे नहीं और उस समय समाज वर्ग-विभाजित नहीं हुआ। तकरीबन जानवरों के दर्जे की मानसिकता और आचरण और आपस में झगड़े-फसाद में लगे रहते हुए भी कबीले के लोगों में शोषण करने की मनोवृत्ति दिखाई नहीं दी थी, दूसरे की मेहनत का इस्तेमाल कर फायदा उठाने या मुनाफा कमाने की मनोवृत्ति भी उस समय पैदा नहीं हुई थी। जब तक समाज में स्थाई सम्पत्ति का आविर्भाव न हो गया, तब तक लोगों में ये मनोवृत्तियां दिखाई नहीं पड़ीं। अर्थात वह सम्पत्ति जिसका सरंक्षण और परिवर्द्धन संभव हुआ और उत्पादन का साधन ऐसा हो गया कि लोगों के श्रम का इस्तेमाल कर उत्पादन को लगातार बढ़ाया जा सके तथा उससे मुनाफा कमाया जा सके। पशुपालन और खेती के आविष्कार ने उत्पादन के साधनों को बदल दिया और स्थाई सम्पत्ति पैदा कर दी। उत्पादन के उस शैशवकाल में एक तरफ उत्पादन की कमी और दूसरी तरफ इंसान की लगातार बढ़ती जरूरतें–इन दोनों के बीच जो संघर्ष हो रहा था, उसके फलस्वरूप इस नयी परिस्थिति में स्थाई सम्पत्ति का जन्म और खेती-बाड़ी व पशुपालन में मनुष्य के श्रम का इस्तेमाल कर सम्पत्ति बढ़ाने का तरीका इजाद होने के परिणामस्वरूप मनुष्य में एक विचार कोंधा। कबीलाई सरदारों ने देखा कि कबीले की सम्पत्ति का यदि समान बंटवारा किया जाये, तो उनकी जरूरतें अच्छी तरह पूरी नहीं होतीं। लिहाजा अगर उस पूरी सम्पत्ति का वे जबर्दस्ती मालिक बन जायें और बाकी लोगों को अपने गुलामों में तब्दील कर दें, तो उनके श्रम का इस्तेमाल कर वे अपनी सम्पत्ति को बढ़ा सकते हैं और फिर आराम की जिंदगी जी सकते हैं। उन कबीलाई सरदारों और कबीले के अंदर ताकतवर लोगों ने दूसरों को जबर्दस्ती लाठी की ताकत से अपने मातहत किया और उन्हें गुलाम बना डाला तथा साथ ही कबीले की सारी सम्पत्ति को व्यक्तिगत सम्पत्ति में तब्दील कर डाला। इस तरह कबीले के तमाम लोगों के सम्मिलित श्रम द्वारा सृजित सारी कबीलाई

सम्पत्ति धीरे-धीरे व्यक्तिगत सम्पत्ति में तब्दील हो गयी। सिर्फ यही नहीं कि कबीलाई सम्पत्ति व्यक्तिगत सम्पत्ति में तब्दील हुई, बल्कि व्यक्तिगत सम्पत्ति के अस्तित्व में आ जाने के फलस्वरूप उस नयी परिस्थिति में मातृसत्तात्मक (matriarchal) समाज भंग हो गया और यहीं सर्वप्रथम उसकी जगह पितृसत्तात्मक (patriarchal) समाज स्थापित हुआ—अर्थात स्त्री शासित समाज की जगह पुरुष शासित समाज आया, जिसका शिकंजा आज तक ढीला न हो सका। हालांकि यह घटना हठात् एक ही दिन में नहीं घटी। उत्पादन का तरीका बदलने से, अर्थात कृषि-पद्धति की इजाद होने के फलस्वरूप श्रम के क्षेत्र में पुरुषों की प्रधानता आ गयी और चूंकि औरतों को बच्चे पैदा करने पड़ते हैं, इसलिए नयी परिस्थिति में श्रम के क्षेत्र में वे पिछड़ गयीं। इस अवसर से फायदा उठाकर मर्दों ने औरतों के खिलाफ बगावत कर दिया और औरतों पर अपना प्रभुत्व जबरन लाद दिया। स्त्री-पुरुष के प्रभुत्व को लेकर लम्बे अरसे तक चले संघर्ष की अति करुण कहानी इतिहास में छिपी पड़ी है। इस नयी परिस्थिति में व्यक्तिगत सम्पत्ति के कायम हो जाने के बाद, हालांकि औरतें मर्दों द्वारा पूर्णतः दमित कर डाली गयीं, फिर भी उन्होंने इस व्यवस्था को यूं ही स्वीकार कर लेना नहीं चाहा। अतः व्यक्तिगत सम्पत्ति के आधार पर कायम पुरुष शासित समाज के स्वार्थ के अनुकूल उन्हें ढालने के लिए नीति, आदर्श और बहुत कुछ आने लगा और फिर धीरे-धीरे पुरुष शासित समाज के नियम-कायदों, आदर्श आदि की औरतें भी अभ्यस्त होती गयीं और इस तरह कालक्रम में पुरुषों की व्यक्तिगत सम्पत्ति में तब्दील हो गयीं। उसके बाद तो स्थिति वहां पहुंच गयी, जहां हम औरतों को खुद ही नारी मुक्ति के विरुद्ध बातें करते पाते हैं। इस इतिहास से पता चलता है कि लोगों में उत्पादन की कमी से पैदा हुए अभावबोध के बावजूद शोषण करने या मुनाफा अर्जन करने की मनोवृत्ति का तब तक जन्म नहीं हुआ, जब तक सम्पत्ति ने स्थाई सम्पत्ति का रूप नहीं ले लिया और मनुष्य के श्रम का इस्तेमाल कर उत्पादन-वृद्धि और लाभ कमाने की प्रक्रिया की खोज नहीं हो गयी। यही वजह है कि 'कबीलाई साम्यवादी समाज' (clan communist society) का जंगली इंसान हजारों अभावों के बावजूद जहां यह नहीं जानता था कि कैसे शोषण किया जा

सकता है, वहीं आज का सभ्य इंसान मानवतावादी और गांधीवादी होते हुए भी, उसमें नेकनीयत व आदर्शवाद रहने के बावजूद शोषण की इस मनोवृत्ति, लोभ व नीचता से किसी तरह भी खुद को मुक्त नहीं रख पा रहा है। आखिर क्यों? पूंजीवादी सामाजिक व्यवस्था के अंतर्गत उत्पादन पद्धति और उत्पादन का चरित्र तथा उत्पादन संबंध ही वर्तमान समाज के अंदर व्याप्त सारे शोषण जुल्म, अत्याचार और सामाजिक बेइंसाफी की जड़ है तथा यह व्यवस्था ही मनुष्य में इन सब विचारों और मनोवृत्तियों को निरंतर उत्पन्न किये जा रही है। ऐसी परिस्थिति में यदि तर्क के लिए मान भी लिया जाये कि कुछ लोग व्यक्तिगत प्रयास के बल पर काफी समझाने-बुझाने से, थोड़े समय के लिए इन मनोवृत्तियों से छुटकारा पाने में सक्षम हो सकते हैं, तो भी देखा जायेगा कि उन लोगों का सुधार करते-करते उसी बीच शोषणमूलक पूंजीवादी व्यवस्था के लाजिमी नतीजे के तौर पर ही और लाखों-लाख लोग उन मनोवृत्तियों का फिर नये सिरे से शिकार हो बैठे हैं। लिहाजा यह तो एक प्रकार का जादू-टोने में विश्वास जैसा टोटका (फेटिसीज्म) हुआ। इसलिए गांधीजी के बताये तरीके से इन समस्याओं का हल तो दूर रहा, उल्टे यह परोक्ष एवं सूक्ष्म रूप से पूंजीवादी व्यवस्था को टिकाये रखने में मदद किये जा रहा है, अतीत में भी किया है, आज भी कर रहा है। चूंकि परोक्ष एवं सूक्ष्म रूप से कर रहा है, इसलिए वैचारिक संघर्ष के क्षेत्र में यह और भी घातक है। क्योंकि, आज जनता अगर पूरी तरह वर्ग-चेतना से लैस न हो, तो उसका सही स्वरूप निर्धारित नहीं कर सकती।

मनुष्य की कोई मनोवृत्ति एवं भावना-धारणा शाश्वत और चिरंतन नहीं है तथा किसी भावना-धारणा और प्रवृत्ति के निर्माण की भौतिक परिस्थिति समाज में पहले से ही मौजूद होती है, तभी ये सब मनोवृतियां तैयार होती हैं—इसी सत्य को समझने में नाकाम होने के फलस्वरूप गांधीजी सामाजिक प्रगति और विकास के नियम अर्थात वर्ग-संघर्ष के विकास के नियम को समझने में सक्षम नहीं हुए। फिर इस सत्य को समझने में भी गांधीजी सर्वथा नाकाम रहे कि पूंजीवादी व्यवस्था में वर्ग-संघर्ष की स्वाभाविक परिणति, क्रांति की चोट से पूंजीवादी राज्य-व्यवस्था का उन्मूलन और मजदूर वर्ग के अधिनायकत्व की स्थापना है। इस तरह देखा जाता है कि मनुष्य की मनोवृत्ति और

मनोभावनाएं सामाजिक व्यवस्था, उत्पादन पद्धति और जीवन धारा बदलने के साथ-साथ बदलती जाती हैं तथा नयी सामाजिक व्यवस्था में नयी उत्पादन पद्धति एवं नये उत्पादन संबंध को आधार बनाकर मनुष्य की नयी मनोवृत्ति एवं मनोभावनाएं पैदा होती रहती हैं। इसी प्रकार सामाजिक व्यवस्था, समाज के वर्ग-विभाजित होने के बाद से वर्ग-संघर्ष की अग्रगति और विकास के रास्ते सामाजिक व्यवस्था अपना रूप बदलते हुए आज की पूंजीवादी व्यवस्था में आ पहुंची है और पूंजीवादी सामाजिक व्यवस्था में वर्ग-संघर्ष आज चरम एवं अंतिम रूप ले चुका है। इसलिए वैचारिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में जो तीव्र मतभेद क्रमशः प्रकट होते दिखाई पड़ रहे हैं, वे हमारे वर्तमान समाज के बुर्जुआ और सर्वहारा के बीच चल रहे तीव्र वर्ग-संघर्ष का प्रतिबिम्ब मात्र हैं।

मैंने इस चर्चा के क्रम में पहले ही दिखाया है कि गांधीजी के वर्ग-सचेत नहीं होने के फलस्वरूप उनके अनजाने ही उनकी विचारधारा में मुख्यतः भारतीय राष्ट्रीय बुर्जुआ वर्ग की भावना-धारणाएं काम करती रहीं। नतीजतन, धर्म और भारतीय परम्परावाद के साथ बुर्जुआ मानवतावादी विचारों को मिलाकर उन्होंने जो विचारधारा खड़ी की और जिस संघर्ष-पद्धति का अनुसरण करके चलते रहे, उससे देश और जनसाधारण के कल्याण की लाख इच्छा होते हुए भी आखिर तक पूंजीपति वर्ग के स्वार्थ को सुदृढ़ होने में ही मदद पहुंचायी और ये सारी घटनाएं उनकी इच्छा के विरुद्ध, अनजाने में ही घट गयीं। इसलिए उनकी हालत बहुत कुछ उस अंधविश्वासी स्नेहमयी मां की तरह हो गयी—जिसकी धारणा है कि बेटे के बीमार होने पर यदि उसे कहीं विदेशी म्लेच्छों की दवा खिलायी गयी, तो वह मर जायेगा। इसलिए अगर बेटे को बचाना है, तो उसे कठोर उपवास, आत्मत्याग और निष्ठा द्वारा गृहदेवता को खुश करना होगा; क्योंकि उसकी धारणा है कि गृहदेवता ही नाराज हैं, आत्मा मलिन हुई है—अतएव उसे शुद्ध करना होगा; कठोर आत्मत्याग और उपवास द्वारा नैतिक चरित्र को उन्नत करना होगा। इस उपमा द्वारा मैं सिर्फ यही स्पष्ट करना चाह रहा हूं कि गांधीजी चाहे जो भी क्यों न सोचते रहे हों, उनका रास्ता गलत था—उन्हें यह न सूझा कि अंततः उनका रास्ता बुर्जुआ वर्ग-स्वार्थ की

ही पूर्ति करेगा। विश्वविख्यात चिंतक एवं साहित्यिक रोमां रोलां ने एक बार गांधीजी से पूछा था–''मान लिया, आप मानते हैं कि आप अपने सत्याग्रह आन्दोलन द्वारा मालिकों को समझा-बुझा कर अपने रास्ते पर लाने में कामयाब होंगे, सत्याग्रही लोग अपने जीवन और विचारधारा द्वारा उन्हें आकर्षित करने में कामयाब होंगे; क्योंकि मालिक भी मनुष्य ही हैं–किंतु आपकी यह कोशिश यदि इतिहास की कसौटी पर न टिके और वे आपके रास्ते पर नहीं आयें, तब आप क्या करेंगे?'' जहां तक मुझे याद है और मैं भूल न करता होऊं तो गांधीजी ने कहा था–''यदि वे नहीं आयें और मेरा यह प्रयोग असफल हो जाये, तो मैं आम जनता की तरफ रहूंगा और खूनी क्रांति का रास्ता ही अपनाऊंगा।'' पर गांधीजी सारी जिंदगी अपने सिद्धांत और संघर्ष-पद्धति का प्रयोग करने के बावजूद इस 'यदि वे न आयें' की मीमांसा नहीं कर सके और अंततः इस नतीजे पर भी नहीं पहुंच सके कि उनका यह प्रयास असफल हुआ है। यह भी उनके जीवन में नहीं हो सका कि जनता के साथ कंधे से कंधा मिलाकर उसके क्रांतिकारी आन्दोलन में हिस्सा लें। क्योंकि इस पद्धति द्वारा परीक्षण-निरीक्षण की कोई निर्दिष्ट सीमारेखा नहीं है। मैंने पहले ही कहा है कि यह एक प्रकार का जादू-टोने में विश्वास-सा है। तो, हम पाते हैं कि कठोर अनुशासन, आत्मत्याग और सत्याग्रही मनोभाव द्वारा समाज के लोगों के नैतिक चरित्र को उन्नत करना होगा और अदम्य साहस के साथ अहिंसक संघर्ष के रास्ते सभी तरह के अन्याय का मुकाबला करना होगा–ये सब सिद्धांत बुर्जुआ स्वार्थ के ही परिपूरक हैं। इस सिद्धांत के द्वारा गांधीजी ने खुद को धोखा दिया और देश एवं जनसाधारण को भी धोखे में रखा। इस मामले में गांधीजी के साथ हमारा कोई मतभेद नहीं है कि नैतिक चरित्र को उन्नत करना होगा। दरअसल विरोध दिखाई पड़ता है नैतिकता की प्रकृति निर्धारित करने के मामले में। आखिर वह कौन-सी नैतिकता की धारणा है, जो आज के इस निर्णायक वर्ग-संघर्ष के युग में सामाजिक प्रगति की परिपूरक है, जो मजदूर वर्ग एवं अन्य शोषित जनसाधारण के मुक्ति-संघर्ष की सहायक है? वस्तुतः यहीं हमारा मतभेद है। गांधीजी जहां मनुष्य की नैतिकता और मूल्यबोधों के सवाल को वर्ग-निरपेक्ष और वर्ग-संघर्ष

से संबंधरहित एक मूल्यबोध या नैतिकता मानते थे, वहीं हम नैतिक धारणाओं को भी वर्गीय भावना-धारणा मानते हैं। इस प्रसंग में मैं एक बात जोर देकर कहना चाहता हूं, वह यह है कि जो सब 'क्रांतिकारी' बड़ी-बड़ी क्रांतिकारी लफ्फाजी की आड़ में नैतिकता के सवाल को ही एकदम उड़ा देना चाहते हैं, या तुच्छ समझते हैं, उन्होंने खुद को भी अध:पतित किया है और क्रांतिकारी आन्दोलन की कमर भी तोड़ डाली है। क्रांतिकारी मजदूर आन्दोलन के अंदर नैतिकता के सवाल पर मैं आज भी इस तरह की भ्रांति देख रहा हूं, पर ऐसे 'क्रांतिकारियों' से हमारा कोई वास्ता नहीं है।

नैतिकता का संकट ही देश के सांस्कृतिक और क्रांतिकारी आन्दोलन के सामने मुख्य रुकावट

अत: आपलोग, जो आज प्रगतिशील सांस्कृतिक आन्दोलन में लगे हुए हैं, जो क्रांतिकारी आन्दोलन संगठित करना चाहते हैं, जो बुर्जुआ विचारों एवं मूल्यबोधों के विरुद्ध अविराम संघर्ष चलाते जाने के लिए दृढ़प्रतिज्ञ हैं, उनके सामने अभी जो समस्या सबसे विकराल रूप लिये प्रकट है, वह है पूरे देश के पैमाने पर नैतिकता का संकट। परिवार टूट रहे हैं, बिखर रहे हैं। आप चाह रहे हैं कि आपका बेटा इंसान बने और वह राजकपूर का 'फैन' बन बैठा है या फिर मुहल्ले के किसी 'गुरु' (मस्तान) का चेला बन बैठा है। यह 'गुरु' की बात आजकल अकसर सुनता हूं। मुहल्ले-मुहल्ले में 'गुरुओं' का आविर्भाव हो रहा है। आप अपने बेटे-बेटी के लिए ही तो परिवार से बंधे रहे, राजनीति नहीं की, क्योंकि आप मानते थे कि राजनीति से कुछ होने-जाने वाला नहीं है। आप कितनी कल्पनाएं और सपने संजोये बेटे-बेटी को इंसान बनाने चले थे। लेकिन हुआ कुछ और ही—बेटा एक तरह का हुआ तो बेटी कुछ और किस्म की। एक राजकपूर का 'फैन' बन गया है, तो एक किसी सिने अभिनेत्री की 'फैन'—अपने-अपने मन के मुताबिक। परंतु ऐसा हो क्यों रहा है? आज प्यार तक करने में सुख नहीं। हो सकता, कितनी कल्पनाएं लिये आपने किसी को प्यार किया है, लेकिन जैसे वह क्रमश: मुरझाता जा रहा है। आपको लगता है मानो कहीं कुछ का अभाव है, कुछ जैसे खो गया है। यह बात मैं इसलिए कह रहा हूं,

क्योंकि हमारे समाज की स्थिति को मैंने जानने-समझने की कोशिश की है, समाज के लोगों को समझने की कोशिश की है। बहुतेरों के मुंह की ओर देखते ही लगता है जैसे वे हर समय एक दबी-दबी व्यथा ढोये चल रहे हैं। यह जो लोगों में इतनी 'सिजोफ्रेनिया' (एक प्रकार का मानसिक विकार) की प्रबलता, तरह-तरह की मानसिक विकृतियां (mental disorders) दिनों-दिन बढ़ती जा रही हैं, उसकी वजह क्या है? आर्थिक समृद्धि के अंदर भी मनुष्य जैसे एक दबी-दबी व्यथा ढोये चल रहा है, कुछ जैसे खो गया है। इसलिए इंसान पर येन-केन प्रकारेण पैसे कमाने की धुन सवार है, वह ऐशो-आराम के पीछे भाग रहा है या फिर 'नाइट क्लब' में शराब पीकर अपने स्नायुओं में बनावटी उत्तेजना पैदा करने के जरिये अपने को तरह-तरह से व्यस्त रखने की कोशिश कर रहा है। सारे देश की मानसिकता में एक प्रकार की अस्थिरचितता के लक्षण हैं, बेचैनी है। कहीं शांति नहीं। यह क्या स्वस्थता का लक्षण है? आप लोगों में बहुतेरे ऐसा सोचते हैं कि पैसे होने से अभाव मिट जायेंगे, सुख-शांति लौट आयेगी, लेकिन आप जरा गौर करें, तो देख पायेंगे कि हजारों रुपयों की आमदनी के बावजूद अनगिनत परिवारों में कहीं सुख-शांति नहीं है। नहीं तो आखिर पैसे वाले रातभर नाइट क्लबों में नाच-कूद कर और शराब पीकर अकारण अपने स्नायुओं को भला क्यों उत्तेजित करते हैं? दरअसल उनके घर में सुख-शांति नहीं है। वे यही सोचते हैं कि जल्दी घर जाकर क्या करूंगा! घर जाकर देखूंगा कि बीवी हो सकता है किसी और के साथ अन्य किसी 'नाइट क्लब' में मौज-मस्ती करने गयी हो! अमीर तबके के लोगों में अनेक का हाल यही है, जिस तबके में पहुंचने के लिए ही आप में से कई लोगों ने बाकी सबकुछ भूलकर दिन-रात कितनी कोशिश कर रहे हैं। जरा गौर करने से ही आप पायेंगे कि आजकल शिक्षितों और बुद्धिजीवियों के बीच सामाजिक मसलों के प्रति लगातार उदासीनता का रुख बढ़ता जा रहा है, लोग लगातार तंगदिल, आत्मकेंद्रित एवं अहंबोध युक्त (ego-centric) हुए जा रहे हैं। बुर्जुआ वर्ग के शाश्वत एवं विशुद्ध सौन्दर्यबोध तथा विशुद्ध संस्कृति का प्रभाव लगातार जीवन-विमुख, संघर्ष-विमुख, पलायनवादी और कल्पनाविलासी मानसिकता को जन्म दिये जा रहा है। तीव्र वर्ग-संघर्ष और वर्तमान जीवन के पेचीदा संघर्षों में

पड़कर ऐसी मानसिकता ही आज 'सिजोफ्रेनिक पर्सनलिटी' (खास तरह की मानसिक विकृति लिये व्यक्तित्व) पैदा कर रही है–अर्थात इस तरह की काल्पनिक सोच अर्थात फेंटेसी की दुनिया में ही आजकल बहुतेरे युवक-युवतियां जी रहे हैं। यदि डॉक्टरों से पूछें, तो वे कहेंगे कि मनुष्य की नैतिकता के मान को हमने ऐसी 'बढ़िया और उन्नत' जगह पर ला खड़ा किया है कि इतने 'प्रगतिशील' आन्दोलनों के बावजूद आजकल युवक-युवतियों के बीच अस्वाभाविक (abnormal) आचरण निरंतर बढ़ता जा रहा है, मानसिक (schizophrenic) मरीजों की संख्या बढ़ती जा रही है और मनोविभ्रम व्यक्तित्व (split personality) वालों की तादाद भी बढ़ती ही जा रही है। आज मानव जैसे वास्तविकता से मुंह फेरकर भागा फिर रहा है। जिसे वह सुख की वस्तु मानता है, वह वस्तुतः उसे देखने को नहीं मिलती। इसलिए सुख और आनंद की बात सोचना मात्र उसकी कल्पना और सपने की चीज बनी हुई है और जीवन आनंदरहित, फीका और नीरस हो गया है। परंतु यह सब हो क्यों रहा है? **चूंकि इनके अंदर पुराने धार्मिक मूल्यबोधों की अपील तो पहले ही निःशेषित हो गयी है और बुर्जुआ मानवतावादी मूल्यबोध भी आज इन लोगों में प्रायः खत्म हैं, जबकि सर्वहारा वर्ग के क्रांतिकारी विचार और नये मूल्यबोध आज भी देश के राजनीतिक और सांस्कृतिक आन्दोलन तथा सामाजिक जीवन में अपना यथेष्ट प्रभाव विस्तार नहीं कर सके हैं। फलस्वरूप विचार और नैतिकता के क्षेत्र में जो एक शून्यता पैदा हो गयी है–उसी का नतीजा यह है कि पूरे देश की नैतिकता के क्षेत्र में यह सर्वव्यापी संकट मौजूद है।**

आजादी आन्दोलन में सामाजिक-सांस्कृतिक क्रांति के काम की अवहेलना

नैतिकता के इस सर्वव्यापी संकट ने समाज के एकदम निचले 'तबके' में, अर्थात मजदूर वर्ग, खेत-मजदूर, गरीब किसान, बंटाईदार किसान–आर्थिक तौर पर जो सबसे ज्यादा गरीब व अभावग्रस्त हैं, उनके बीच तो आज भी उतना विकराल रूप धारण नहीं किया है। क्योंकि आज भी इनमें पुराने धार्मिक और मानवतावादी मूल्यबोध पूरी तरह निःशेषित

नहीं हो पाये हैं, अभी भी वे इनमें थोड़ा-बहुत काम किये जा रहे हैं। लेकिन, सर्वहारा वर्ग के सांस्कृतिक आन्दोलन को व्यापक और जोरदार करते हुए यदि मजदूरों-किसानों के क्रांतिकारी आन्दोलन के परिपूरक मूल्यबोध और नैतिकता की एक फिजा तुरंत पैदा नहीं की जा सकी, तो इनके जीवन में भी नैतिकता का संकट गहरे एवं व्यापक रूप में दिखाई देगा और मजदूर-किसानों के क्रांतिकारी संघर्षों को भी वह अंदर से पंगू कर डालेगा। क्योंकि एक तरफ वर्ग-शोषण की तीव्रता में लगातार बढ़ोतरी हुई है और दूसरी तरफ सारे देश में विचार और नैतिकता के क्षेत्र में यह जो शून्यता पैदा हुई है, इसके फलस्वरूप इस दौरान इनके पुराने नैतिक चरित्र में टूटन शुरू हो गयी है।

बुर्जुआ मानवतावादी विचारधारा, जो इस देश में स्वतंत्रता आन्दोलन के समय अर्थात राष्ट्रीय उभार के युग में आयी, उसके अंदर काम कर रही दो धाराओं का उल्लेख मैं पहले ही कर चुका हूं। एक धारा थी जिसने भारतीय परम्परावाद और अध्यात्मवाद के साथ मानवतावादी विचारों और मूल्यों का संमिश्रण किया; फलतः वह पंगु, पलायनवादी, जराग्रस्त मानवतावादी धारा थी और साम्राज्यवाद और सामंतवाद के विरुद्ध उदारवादी, समझौतापरस्त, सुधारपंथी विरुद्धवादी धारा थी। आजादी की लड़ाई के पूरे दौर में इस मुल्क के राजनीतिक और सांस्कृतिक जीवन में यही धारा प्रधान थी। राजनीतिक और सांस्कृतिक आन्दोलन के क्षेत्र में इस रुझान या धारा का नेतत्व क्रमशः गांधीजी और रवीन्द्रनाथ ने किया था। फिर इसी के साथ-साथ इस देश में एक और रुझान या धारा मौजूद थी—पूंजीवादी क्रांति के पहले दौर की यौवनोद्दीप्त एवं क्रांतिकारी मानवतावादी धारा, जिसकी अभिव्यक्ति, जैसा मैंने पहले ही कहा है, इस देश में पेटी बुर्जुआ (निम्न पूंजीवादी) क्रांतिकारिता के उभार के माध्यम से हुई और जो दृष्टिकोण के पहलू से मूलतः अज्ञेयवादी और धर्मनिरपेक्ष थी और साम्राज्यवाद, सामंतवाद एवं धर्म के विरुद्ध समझौताहीन थी। राजनीतिक और सांस्कृतिक जीवन में इस धारा को क्रमशः उस वक्त के क्रांतिकारियों तथा शरतचन्द्र एवं नजरूल ने नेतृत्व दिया था। जो लोग उस जमाने में रवींद्रनाथ के साथ गांधीजी के संबंध या लगाव तथा शरतचन्द्र एवं नजरूल के साथ सुभाषचंद्र एवं बंगाल के अन्य क्रांतिकारियों के संबंध

व लगाव की खबर रखते हैं–उनके सामने यह सच्चाई साफ प्रकट हो जायेगी। **स्वतंत्रता आन्दोलन के पूरे युग में जराग्रस्त, समझौतापरस्त मानवतावादी विचारधारा की प्रधानता के चलते ही राजनीतिक क्रांति के कार्यक्रम में हम सामाजिक और सांस्कृतिक क्रांति के कार्यक्रम को नहीं जोड़ पाये। पूरे आन्दोलन में कमजोरी का मुख्य पहलू यही था। राजनीतिक आन्दोलन के क्षेत्र में कारगर तौर पर इसका कोई खास विरोध करना संभव नहीं हुआ, फिर भी सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में शरतचन्द्र और नजरूल ने उपेक्षा से फेंके हुए और धूल-मलिन सामाजिक एवं सांस्कृतिक क्रांति के झण्डे को बुलन्द रखने की भरपूर कोशिश की थी। नेतृत्व राष्ट्रीय बुर्जुआ वर्ग के हाथों में रहने के फलस्वरूप उनकी यह कोशिश आखिर तक पूरी तरह सफल न होने पर भी स्वतंत्रता आन्दोलन की हजार कमी-खामियों, भटकावों और कमजोरयों के बीच मानवतावादी विचार की मजबूती का पहलू यही था।** कमजोरी और मजबूती के इन दोनों पहलुओं के साथ इस देश के मानवतावादी विचारों एवं मूल्यबोधों पर आधारित जो नयी नैतिकता का मान तैयार हुआ था, उसने ही उन दिनों साम्राज्यवादी शोषण के खिलाफ और सामंती समाज की सारी कुरीतियों, कुसंस्कारों और धर्मांधता के विरुद्ध संघर्ष में जनमानस को प्रेरित किया था। क्योंकि उस वक्त बुर्जुआ मानवतावाद देश की आजादी और सामाजिक प्रगति का परिपूरक था। राष्ट्रीय आजादी मिलने के बाद बुर्जुआ राज्य-व्यवस्था कायम होने और पूंजीवाद के सुदृढ़ होने के साथ-साथ उस जमाने के प्रगतिशील बुर्जुआ मानवतावादी विचार एवं मूल्यबोध आज शोषक बुर्जुआ वर्ग के हाथों में सुविधा में तब्दील हो चुके हैं। अर्थात बुर्जुआ मानवतावादी विचार, नैतिकता की धारणाएं और मूल्यबोध अपना प्रगतिशील चरित्र खोकर आज मजदूरों और अन्य शोषित जनसाधारण के आन्दोलन का दमन करने तथा शोषित वर्ग की चेतना को भटकाव के रास्ते ले जाने के लिए शोषक बुर्जुआ वर्ग के हाथों में वैचारिक हथियार में तब्दील हो चुके हैं। इसमें कोई ताज्जुब की बात नहीं है! इसी प्रकार इतिहास के एक खास दौर में जो सिद्धांत सामाजिक प्रगति के प्रयोजन से शोषित वर्ग के संघर्ष के सहायक के

रूप में निर्मित होता है, फिर वही एक दिन उत्पादन के विकास के एक भिन्न विशेष ऐतिहासिक स्तर में, अर्थात वर्ग-संघर्ष की बदली हुई परिस्थिति में, शोषित वर्ग के मुक्ति-संघर्ष की नयी आवश्यकताओं के परिप्रेक्ष्य में अपना पहले का प्रगतिशील चरित्र खोकर शोषक वर्ग के हाथों में सुविधा बन जाता है। उत्पादन के विकास के जिस विशेष ऐतिहासिक स्तर में अर्थात वर्ग-संघर्ष के जिस विशेष स्तर में देश की शोषित जनता की मुख्य राजनीतिक लड़ाई साम्राज्यवाद और सामंतवाद के विरुद्ध थी, उस वक्त बुर्जुआ मानवतावाद के साथ मेहनतकश वर्ग के वैज्ञानिक समाजवाद का सैद्धांतिक क्षेत्र में जो वैचारिक संघर्ष चल रहा था, वह था मुख्यत: साम्राज्यवाद-विरोधी लड़ाई में जनता पर नेतृत्व कायम करने का संघर्ष। राजनैतिक विचार के क्षेत्र में बुर्जुआ मानवतावाद के साथ मजदूर वर्ग के वैज्ञानिक समाजवाद का नेतृत्व (hegemony) कायम करने का संघर्ष रहने के बावजूद यह ख्याल करना चाहिए कि तब तक साम्राज्यवाद और सामंतवाद-विरोधी संग्राम के संदर्भ में बुर्जुआ मानवतावाद अपना प्रगतिशील चरित्र नहीं खो बैठा था। लेकिन आज उत्पादन के विकास की एक भिन्न परिस्थिति में, अर्थात उस विशेष ऐतिहासिक स्तर में जब बुर्जुआ वर्ग के साथ मजदूर वर्ग का द्वन्द्व ही सामाजिक द्वन्द्व-संघर्षों में मूल या मुख्य द्वन्द्व के रूप में दिखाई दे रहा है और जहां बुर्जुआ वर्ग के शासन-शोषण के विरुद्ध मजदूर वर्ग के मुक्ति-संघर्ष का स्वार्थ ऐतिहासिक नियम से ही पूरे समाज की प्रगति के स्वार्थ के साथ ओतप्रोत रूप से जुड़ा हुआ है, वहां बुर्जुआ मानवतावाद, उसके मूल्यबोध और नैतिकता संबंधी धारणाएं न सिर्फ अपने पुराने प्रगतिशील चरित्र को आज खो चुके हैं, बल्कि अब वे मजदूर-किसानों के मुक्ति-संघर्ष के वैचारिक एवं सांस्कृतिक आन्दोलन के क्षेत्र में मुख्य बाधा स्वरूप खड़े हैं। इसलिए रवीन्द्रनाथ, शरतचन्द्र, नजरूल आदि ने मूल्यबोध और नैतिकता के मान को जिस उन्नत स्तर पर ला दिया था, आज की परिवर्तित परिस्थिति में यदि उन्हीं मूल्यबोधों को पकड़े रहना चाहें, तो जैसा मैंने पहले ही कहा था वह आपको लगातार नीचे की ओर ले जाता रहेगा। उत्पादन के विकास के इस विशेष ऐतिहासिक स्तर में वर्ग-संघर्ष की जिन जटिलताओं के बीच हम घिरे हुए हैं—जहां एक ओर छंटनी की समस्या है, तो दूसरी

ओर उसके साथ कल-कारखानों को चालू रखने की समस्या। एक तरफ बेरोजगारों को रोजगार देने की समस्या है, मजदूरों की नौकरी की सुरक्षा की समस्या है, तो दूसरी तरफ समय-समय पर नियतकालिक आर्थिक मंदी (periodic recession) की समस्या। नतीजतन, औद्योगिक क्रांति की धारा को अविराम गति से आगे ले जाने की बात तो दूर रही, बल्कि जो कल-कारखाने इस बीच स्थापित हुए थे, उनको बचाये रखने की समस्या से हम घिरे हुए हैं। एक तरफ खेती के आधुनिकीकरण की आवश्यकता है, तो दूसरी तरफ मौजूदा व्यवस्था में यदि आधुनिकीकरण हो तो एक धक्के में जो लाखों-लाख ग्रामीण बेरोजगार पैदा हो जायेंगे, उनके रोजगार की समस्या है। इन समस्याओं ने पूंजीवादी समाज-व्यवस्था और सभ्यता के सर्वव्यापी संकट के चरित्र को ही उत्तरोत्तर प्रकट किया है। इसलिए आज की सामाजिक प्रगति के सामने समस्या है, पूंजीवादी शोषण और अत्याचार के चंगुल से मजदूर वर्ग और अन्य शोषित जनसाधारण की मुक्ति की समस्या, अर्थात समस्त उत्पादन, उत्पादक शक्तियों को पूंजीवादी शिकंजे से मुक्त करने के साथ-साथ ज्ञान-विज्ञान, तकनीक, कला, साहित्य—अर्थात मनुष्य की पूरी संस्कृति को पूंजीवादी जंजीरों और मुनाफाखोरी के उद्देश्य से मुक्त करने की समस्या।

इसलिए आज प्रगति के लिए मूल संघर्ष है समाज के भौतिक उत्पादन एवं भावगत उत्पादन के क्षेत्र में बुर्जुआ आधिपत्य की जगह सर्वहारा वर्ग का आधिपत्य कायम करने का संघर्ष, बुर्जुआ जनतंत्र और बुर्जुआ अधिनायकत्व की जगह सर्वहारा जनतंत्र एवं सर्वहारा अधिनायकत्व स्थापित करने का संघर्ष। ऐसी एक जटिल और बिल्कुल नयी परिस्थिति में बुर्जुआ मानवतावादी विचारों एवं मूल्यबोधों को आज भी पकड़े रहने की मनोवृत्ति के चलते ही नैतिक चरित्र को कैसे ठीक रखा जा सकता है, क्या करना उचित होगा—यह सब गड्डमड्ड हुआ जा रहा है। अत: वास्तव में हम जो करते हैं, वह यह है कि देश के उद्योगों की रक्षा के नाम पर बातों की चतुराई से आखिर तक मालिकों के स्वार्थ की खातिर मजदूरों के स्वार्थ की बलि दे डालते हैं और अपने को यह कहकर दिलासा देते हैं कि बड़े काम के लिए छोटे-छोटे नुकसान तो उठाने ही पड़ते हैं! इसलिए आज के जमाने में सारे मानवतावादी ही—वे व्यक्तिगत रूप में चाहे जितने भी ईमानदार क्यों न

हों–जो अपने को मानवतावादी विचारधारा से सर्वहारा क्रांतिकारी विचारधारा में ढालने में अब तक भी सक्षम न हो सके अर्थात जिनके लिए मानवतावादी चिंतन से कम्युनिस्ट चिंतन में संक्रमण संभव न हो सका, वे आज के इन निःशेषित मानवतावादी मूल्यबोधों को लेकर चलने की कोशिश में व्यावहारिक विचार के नाम पर दृष्टिकोण में सुविधावादी बनते जा रहे हैं और फिर धीरे-धीरे इन सुविधावादी आचरणों के ही पक्ष में तर्क देते-देते अपने अनजाने ही नैतिकता के क्षेत्र में अपने को तो नीचे गिरा ही रहे हैं, साथ-साथ हर तरह के राजनीतिक अवसरवाद को भी जन्म दिये जा रहे हैं। एक ईमानदार व्यक्ति की यह कैसी दर्दनाक परिणति है! इसलिए आज के दौर में जितने नामी-गिरामी मानवतावादी हैं, उनकी ओर एक बार निगाह डालें, तो पायेंगे कि ये सब मानवतावादी, रवीन्द्र-उपासक शोषण के खिलाफ जनता के जायज प्रतिरोध आन्दोलनों से कितनी आसानी से अपनी देह बचाये ठाठ से विशुद्ध संस्कृति और विशुद्ध सौन्दर्य-तत्व की चर्चा में मस्त हैं। आज के जमाने में इसी नमूने के तो हैं रवींद्रनाथ, शरतचन्द्र और नजरूल के ये उत्तराधिकारी! ये रवीन्द्रनाथ की जयंती बड़ी धूमधाम से ढोल-मंजीरे बजाकर मनाते हैं, लेकिन सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक शोषण और तमाम अन्यायों के विरुद्ध संघर्ष में हम उन्हें जनता के साथ नहीं पाते। हालांकि रवीन्द्रनाथ ने कहा है, ''अन्याय जे कोरे आर अन्याय जे सहे, तव घृणा तारे जेनो तृणसम दहे'' (जो अन्याय करता है और जो अन्याय सहता है, उसे तुम्हारी घृणा तिनके की तरह भस्म कर डाले)। क्या इनके आज के आचरणों में ढूंढ़ने से भी कहीं इसकी झलक मिलती है? आज शोषण, अत्याचार और समाज के अंदर इंसानियत की जो तौहीन हो रही है–उसके लिए इनमें कहां है वह टीस, कहां है वह बचैनी–जिससे इनकी रात की नींद हराम हो गयी हो? ये लोग आम जनता के किसी संग्राम के सेनानी नहीं हैं, हालांकि आज रवीन्द्रनाथ के टीकाकार ये ही हैं! रवीन्द्रनाथ, शरतचन्द्र और नजरूल के मूल्यबोध इनके लिए अन्याय के विरुद्ध संघर्ष के हथियार नहीं हैं, बल्कि इनके लिए तो ये मात्र सुविधा (privilage) में बदल चुके हैं–बुद्धिजीवी के तौर पर नामी-गिरामी व्यक्ति होने का ढोंग रचने के लिए मात्र एक सुविधा बन चुके हैं।

आज के मानवतावादियों में प्रतिक्रिया के दो चरम विपरीत छोर

आप जो लोग आज सर्वहारा सांस्कृतिक आन्दोलन संगठित करने के काम में लगे हुए हैं, उन्हें बुर्जुआ मानवतावादी चिंतनधारा और आदर्शों के विरुद्ध अविराम समझौताविहीन संघर्ष करते जाना होगा। विश्व पूंजीवाद के इस चरम एवं सर्वव्यापी संकट में पड़कर मानवतावादी विचारों और मूल्यबोधों की कितने तरह की विकृतियां और भटकाव हो रहे हैं तथा कैसी दयनीय परिणति हो रही है, जनमानस के सामने इसकी सही तस्वीर पेश करनी होगी।

बुर्जुआ मानवतावाद के पुराने मूल्यबोधों को आज काम करते न देखकर मानवतावादी विचार जगत में दो पूर्णत: विपरीत ढंग की प्रतिक्रियाएं नजर आ रही हैं। बीसवीं सदी के इस तीव्रतम वर्ग-संघर्ष में पड़कर बुर्जुआ मानवतावादी मननशीलता की जो दो चरम विपरीत छोरों वाली परिणति हुई हैं, उनमें एक से फासीवाद और दूसरी से सार्त्र के अस्तित्ववाद (existentialism) का जन्म हुआ है। हालांकि यह बात सुनकर आपको हैरानी हो सकती है। लेकिन फासीवाद के उभार के पीछे के इतिहास अर्थात उसके आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक पहलू को ऐतिहासिक और वैज्ञानिक नजरिये से जांचने पर यह सच्चाई सहज ही प्रकट हो जायेगी कि **मानवतावादी मानसिकता ने ही आज क्रांति से भयभीत होकर सर्वहारा क्रांति के विरुद्ध प्रतिक्रांतिकारी राष्ट्रीय उभार (counter revolutionary national uprising) संगठित करने के उद्देश्य से ही विज्ञान के तकनीकी पहलू और अध्यात्मवाद का एक अद्‌भुत संमिश्रण करके फासीवाद की वैचारिक एवं सांस्कृतिक बुनियाद रखी है।** दार्शनिक और सांस्कृतिक दृष्टिकोण से देखने पर फासीवाद है अध्यात्मवाद और विज्ञान के तकनीकी पहलू का एक अद्‌भुत संमिश्रण (Fascism is a peculier fusion between spiritualism and technological aspects of science) और ठीक इसी कारण से बहुत पहले गांधीवाद को मैंने भारतीय फासीवादी संस्कृति के वैचारिक आधार की संज्ञा दी थी। यह हमेशा याद रखना चाहिए कि किसी भी देश में दकियानूसी बुर्जुआ लोगों के नेतृत्व में फासीवाद नहीं पनपा।

क्योंकि पूरी तरह फासीवाद कायम करने के लिए अन्य हालात मौजूद होने के साथ ही एक और चीज अवश्य होनी जरूरी है, वह है अंधराष्ट्रवाद के आधार पर राष्ट्रीय एकता कायम करना अर्थात क्रांति के विरुद्ध प्रतिक्रांति हेतु राष्ट्रीय उभार संगठित करना। एक तरफ पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की सारी शक्ति को केन्द्रीकृत करना; इसके लिए पूंजीपतियों के बीच आपस के आंतरिक द्वन्द्व को यथासंभव कम करना; राष्ट्रीयकरण करना और योजनाएं चालू करना एवं सोशल डेमोक्रेटिक आर्थिक नीति अपनाने के जरिये धीरे-धीरे राष्ट्रीय और एकाधिकारी पूंजी के मिलन के रास्ते पर कदम बढ़ाना अर्थात पूंजीवाद के समग्र स्वार्थ में राजसत्ता को हकीकत में एकाधिकारी पूंजी का गुलाम बना देना; दूसरी तरफ आर्थिक तौर पर ये सारे कार्यक्रम लेने के साथ-साथ राजनीतिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में प्रतिक्रांति के पक्ष में पूरे राष्ट्र की एकता लाना और समाजवाद एवं राष्ट्रीय परम्परावाद का मोहजाल बिछाकर और उग्र राष्ट्रवाद का जहर फैलाकर असल में सारे देश को क्रांति के विरुद्ध बुर्जुआ वर्ग के पीछे एकजुट करना। लेकिन एक ही साथ इन दोनों तरह के कामों को पूरा करना बुर्जुआ वर्ग के दकियानूसी हिस्से द्वारा संभव नहीं, बल्कि यह काम तो एकमात्र बुर्जुआ वर्ग के उसी हिस्से द्वारा मुमकिन है, जिसके बारे में प्रगतिशील होने का एक झूठा मोह आज भी जनसाधारण के मन में मौजूद है। राजनीति के क्षेत्र में मानवतावादी राष्ट्रीय बुर्जुआ लोगों का यह तथाकथित प्रगतिशील हिस्सा ही 'राष्ट्रीय समाजवाद', 'जनतांत्रिक समाजवाद' या 'समाजवादी ढांचे का समाज', या फिर 'राष्ट्रीय साम्यवाद', 'रेडिकल समाजवाद' जैसे सिद्धांतों को पेश करता रहता है। बुर्जुआ लोगों के इन्हीं तथाकथित व दिखावे के 'प्रगतिशील' सिद्धांतों, कार्यक्रमों और नारों की आड़ में प्रतिक्रांतिकारी राष्ट्रीय एकता कायम करने के माध्यम से अनुकूल वातावरण पाकर ही पूर्ण फासीवाद पैदा होता है। यह तो हुआ इस बात का वर्णन कि किस प्रकार **मानवतावादियों का एक हिस्सा पूंजीवाद के चरम व सर्वग्रासी संकट काल में एक ओर विज्ञान के तकनीकी पहलू और अध्यात्मवाद का संमिश्रण कर और दूसरी ओर नीति-नैतिकता के क्षेत्र में मानवतावादी विचारों एवं**

मूल्यबोधों के साथ धार्मिक मूल्यबोधों एवं राष्ट्रीय परम्परावाद को मिलाकर फासीवाद को जन्म देता है।

ठीक इसके विपरीत छोर पर बुर्जुआ मानवतावाद की आज एक और परिणति हुई है—ज्यां पाल सार्त्र के अस्तित्ववाद के रूप में। ईसाई धार्मिक मूल्यबोधों या अन्य धार्मिक मूल्यबोधों की तरह ही पूंजीवादी क्रांति के शुरुआती दौर के बुर्जुआ मानवतावादी मूल्यबोध भी आज अकार्यकारी और पूरी तरह नि:शेषित हो जाने के फलस्वरूप बुर्जुआ मानवतावाद की जो धारा धर्म और परम्परावाद के साथ किसी हालत में समझौता करने के लिए तैयार नहीं है, वह धारा उस पुरानी मानसिकता के सिलसिले को लेकर चलते हुए आज भी सभी तरह के पूर्व-निर्धारित मूल्यबोधों की धारणा की विरोधी है। जबकि यह धारा बुर्जुआ मानवतावादी चिंतनधारा के प्रभाव से अपने को पूरी तरह मुक्त न कर सकी; फलस्वरूप समाज में वर्गों के अस्तित्व, विकास व अवलुप्ति के नियम को और भाव जगत एवं आदर्शवाद के क्रमविकास के नियम को समझने में सक्षम नहीं हुई। इसलिए इसके द्वारा मानवतावादी चिंतनधारा से साम्यवादी चिंतनधारा में विकास करना भी संभव नहीं हुआ। इसी धारा की परिणति के रूप में सार्त्र के अस्तित्ववाद का जन्म हुआ है। घोर भौतिकता का लबादा ओढ़े सार्त्र का अस्तित्ववाद असल में बुर्जुआ भाववादी विचारधारा की ही जुगाली कर रहा है। इसलिए अस्तित्व और शून्यता (being and nothingness) के नाम से जो पुस्तक उन्होंने लिखी है, वही उनके दार्शनिक चिंतन की मूल बात है। हालांकि बाद में सार्त्र स्वयं यह स्वीकार करने को बाध्य हुए हैं कि 'अस्तित्व और शून्यता'—अर्थात अस्तित्व में आना और अस्तित्व से जाना (coming into being and going out of being)—मात्र इसी धारणा द्वारा ही वस्तु जगत के तमाम क्रियाकलापों को समावेशित कर (encompasing) एक नियमबद्ध प्रणाली (system of discipline) में लाना असंभव है। इसलिए 'अस्तित्व और शून्यता' जैसे सिद्धांत पर सैकड़ों पन्नों की पुस्तक लिखकर एक नया दर्शन खड़ा करने के व्यर्थ प्रयास के बाद वे खुद स्वीकार करने को बाध्य हुए हैं कि **द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद ही एकमात्र दर्शन है, जो वस्तु जगत की सारी परिघटनाओं को द्वन्द्व-समन्वय में अर्थात एक ही**

साथ संघर्ष और एकता में सर्वाङ्गीण रूप से अध्ययन कर एक नियमबद्ध प्रणाली में खड़ा करने में सक्षम है। लेकिन द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को एकमात्र सही दर्शन मान लेने पर भी सार्त्र दार्शनिक फुयरबाख की तरह ही वस्तु से भाव की उत्पत्ति होने की असल प्रक्रिया को समझने में नाकाम रहे। इसलिए उन्होंने वस्तु-सत्ता और भाव के बीच मुख्य-गौण के सवाल पर, अर्थात वस्तु से ही भाव की उत्पत्ति हुई है—इस संबंध तथा वस्तु एवं भाव के पारस्परिक द्वन्द्व-समन्वय के संबंध पर विचार करने के क्षेत्र में द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दृष्टिकोण व चिंतनधारा के विरोधी बुर्जुआ भाववादी दृष्टिकोण और चिंतन-पद्धति का ही अनुसरण किया है। इसलिए सार्त्र के द्वारा भी यह समझना संभव नहीं हुआ कि भाव वस्तु की ही क्रिया का फल है और हर भावना-धारणा, समझ और आदर्शवाद असल में एक विशेष वैचारिक परिमंडल (particular ideological category) मात्र है, जो सिर्फ उत्पादन के विकास के एक विशेष ऐतिहासिक स्तर के साथ ही संबद्ध है। अत: व्यक्तित्व, व्यक्ति-सत्ता, व्यक्ति-चिंतन और व्यक्तिगत समझ भी उत्पादन के विकास के एक विशेष ऐतिहासिक स्तर में भौतिक उत्पादन का मात्र ऊपरी ढांचा—भावगत उत्पादन (spiritual production) होता है—इस सत्य को भी वे समझ नहीं पाये। फुयरबाख और सार्त्र दोनों ही परिवेश के साथ मनुष्य की मननशीलता के द्वन्द्व-संघात को स्वीकार करते हैं। हालांकि दोनों में से कोई भी यह नहीं मानता कि चिंतन-शक्ति का वस्तु-सत्ता से अलग कोई अस्तित्व है, बल्कि दोनों ही हेगेल के 'एब्सोल्यूट आइडिया' (absolute idea) की धारणा के विरोधी हैं। फिर भी ये लोग इस सत्य को सही रूप में समझने में असमर्थ रहे कि **किसी चिंतन के आने के पहले ही उसकी भौतिक स्थिति (material condition) पैदा हो जाती है और भौतिक स्थिति की यह सीमा ही चिंतन की स्वतंत्रता की सीमा निर्धारक है।** विज्ञान और इतिहास के सिद्धांतों को आम तौर पर मान लेने पर भी चिंतन-शक्ति के अंदर एक 'एब्सोल्यूट स्वतंत्र सत्ता' की धारणा ने दोनों की चिंतन-मनन क्रिया पर काफी असर डाल रखा है। इसी कारण मनुष्य के चिंतन पर परिवेश के प्रभाव को मान लेने के बावजूद इस संबंध में इन दोनों ही की धारणा में बुर्जुआ भाववादी

चिंतन-पद्धति का काफी असर मौजूद है। इसलिए उसी भाववादी चिंतन-पद्धति का अनुसरण करते हुए पूंजीवादी उत्पादन के विकास के दो भिन्न स्तरों में इन दोनों ने दो बाहरी तौर पर परस्पर विरोधी विचारों को जन्म दिया है। एक पूंजीवादी क्रांति के पहले दौर में फुयरबाख का 'मानवतावाद' और दूसरा मरणासन्न पूंजीवाद के चरम संकट के दिनों में सार्त्र का 'अस्तित्ववाद'। पूंजीवादी क्रांति के पहले दौर में उत्पादन के विकास के एक विशेष ऐतिहासिक स्तर में समाज की प्रगति और व्यक्ति के विकास की नयी आवश्यकतावश भौतिक उत्पादन के परिपूरक मनुष्यत्वबोध की जो धारणा एवं मूल्यबोध सामाजिक-चिंतन में दिखाई पड़े थे, उसी सामाजिक चिंतन का फुयरबाख के माध्यम से व्यक्तीकरण होने के फलस्वरूप उनका मानवतावाद आया। लेकिन वे खुद हेगेल के द्वन्द्वात्मक भाववाद को शाश्वत भाव (absolute idea) के आवरण से मुक्त करके द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दर्शन को सही मान लेने के बावजूद चिंतन की एक परम स्वतंत्र सत्ता की धारणा से अपनी चिंतन प्रक्रिया को पूरी तरह मुक्त न कर पाये। इसके फलस्वरूप ही उन्होंने नीति-नैतिकता के सवाल पर इन सब मानवतावादी मनुष्यत्वबोधों की तमाम धारणाओं और मूल्यबोधों को शाश्वत विचार के रूप में स्थापित कर दिया। सार्त्र भी व्यक्ति-स्वतंत्रता, व्यक्ति के अस्तित्व एवं स्वतंत्रता के संबंध में व्यक्ति-मानस के चिंतन में एक एब्सोल्यूट स्वतंत्र सत्ता के अस्तित्व के बारे में बुर्जुआ मानवतावादी चिंतन के प्रभाव से अपने को छुड़ा न सकने के फलस्वरूप यह समझने में सक्षम न हो सके कि मरणासन्न पूंजीवाद के दौर में किस प्रकार और क्यों, अर्थात किस नियम के मुताबिक एक दिन के अत्यंत ऊंचे दर्जे के मानवतावादी मूल्यबोध भी खालिस अंधविश्वास-रूढ़ि (dogma) में तब्दील होकर आज शोषक वर्ग के हाथों में सुविधा में तब्दील हो चुके हैं। जिन मानवतावादियों ने एक दिन व्यक्ति-स्वतंत्रता और मुक्ति का जयगान गाया था, वे ही महज शासन और शोषण के प्रयोजनवश युक्तिसंगत प्रतिबंध (reasonable restriction) की दुहाई देते हुए अनेक बहाने बनाकर आज व्यक्ति-स्वातंत्र्य और व्यक्ति-स्वतंत्रता का हनन क्यों करते जा रहे हैं? सार्त्र की व्यक्ति-स्वाधीनता, व्यक्ति के अस्तित्व एवं व्यक्ति-स्वतंत्रता की धारणा असल में व्यक्तिगत सम्पत्ति

पर आधारित बुर्जुआ वर्ग की व्यक्ति-स्वतंत्रता की धारणा ही है। **व्यक्ति-स्वतंत्रता एवं व्यक्ति-मुक्ति की उनकी धारणा, यहां तक कि 'पसंद की स्वतंत्रता' की उनकी धारणा भी व्यक्तिगत सम्पत्ति की मानसिकता के साथ घनिष्ठ रूप से संबंधित है। अर्थात ये सब धारणाएं व्यक्तिगत सम्पत्ति बोध की जटिल मानसिकता से मुक्त नहीं हैं–यह सत्य भी उनकी समझ में न आ सका।** बल्कि व्यक्तिगत मनोवृत्ति संबंधी बुर्जुआ भाववादी धारणा ने भी सार्त्र की अस्तित्ववादी ध्यान-धारणा पर काफी असर डाल रखा है। समाज में प्रत्येक व्यक्ति की जो अलग एक सत्ता या अस्तित्व मौजूद है, अस्तित्ववादियों के मतानुसार यही है स्थान-काल संबंध के अंदर भी व्यक्ति की 'एब्सोल्यूट' या परम स्वतंत्र सत्ता का अस्तित्व। इसलिए वे व्यक्ति-सत्ता के 'सीमाहीन स्वतंत्र अस्तित्व' में विश्वास रखते हैं। अतएव किसी एक व्यक्ति के आचरण की प्रतिक्रिया उस व्यक्ति पर या समाज पर जो भी क्यों न हो, उसके लिए व्यक्ति की पसंद की स्वतंत्रता (absolute freedom of choice) अर्थात 'अच्छे और बुरे' को तय करने की परम स्वतंत्रता में किसी तरह से हस्तक्षेप नहीं किया जा सकता। क्योंकि, सार्त्र के मतानुसार 'व्यक्ति स्वतंत्रता का स्वयंनियंता हैं' (individuals are condemned to freedom)। व्यक्ति-स्वतंत्रता की ऐसी अतिवादी धारणा या स्वतंत्रता की उग्र समझ (ultra sense of freedom) को दर्शाने की क्या अजीबो-गरीब शैली है! लेकिन इस प्रकार कहने का साहित्यिक मूल्य जो भी हो, लेकिन व्यक्ति-सत्ता के ऐसे सीमाहीन स्वतंत्र अस्तित्व की धारणा गैर ऐतिहासिक और अवैज्ञानिक ही है, क्योंकि सार्त्र की इस प्रकार की अभिव्यक्ति से यह धारणा प्रकट हुई है कि बुद्धि का एक तत्व (an eliment of intellect) मानो वस्तु से उत्पन्न भी नहीं, वस्तु से परे, स्वतंत्र भी नहीं एवं पूरी तरह वस्तु पर निर्भर भी नहीं, बल्कि वह अनंत काल से वस्तु के अंतर्गत ही चिंतन-तत्व के रूप में निहित है। हालांकि सार्त्र के अपने मुंह से यह बात स्वीकार नहीं करने पर भी परिवेश के साथ द्वन्द्व-संघात के बीच व्यक्ति-सत्ता की ऐसी एक 'सीमाहीन स्वतंत्र अस्तित्व' की उनकी जो धारणा है; जिससे उनकी 'पसंद की परम स्वतंत्रता' (absolute freedom of choice) की धारणा पैदा हुई है–उसका विश्लेषण करने पर अंततः

यही नतीजा निकलेगा। इसके अलावा इसके अंदर एक और बात गौर करने की है कि जिस सार्त्र ने बुर्जुआ नीति-नैतिकता के विरुद्ध इतने जोरदार शब्दों में जेहाद की घोषणा की है, वही सार्त्र 'पसंद की स्वतंत्रता' की अपनी धारणा और व्यक्ति-सत्ता के स्वतंत्र अस्तित्व को समझाने के लिए जब कहते हैं कि 'व्यक्ति स्वतंत्रता के स्वयंनियंता हैं', तब इस प्रकार की अभिव्यक्ति के अंदर तर्क-विचार की जो धारा काम कर रही है, वह भी दरअसल बुर्जुआ न्याय शास्त्र की न्याय-नीति की धारणा से ही प्रभावित है। हां, आश्चर्य की बात है कि इतने सूक्ष्म विश्लेषण की क्षमता रहने के बावजूद यह उनकी नजर से ओझल रह गयी। नहीं तो उनके लिए यह कोई अनजानी बात नहीं ही होगी कि बुर्जुआ न्यायशास्त्र की नैतिकता के मुताबिक ही एक काम के लिए सजा प्राप्त 'कनडेम्ड' व्यक्ति को दोबारा सजा नहीं दी जा सकती।

अत: इससे पता चलता है कि बुर्जुआ मानवतावादी नैतिकता और आचार-विचार के विरुद्ध जेहाद का सार्त्र चाहे कितना ही पुरजोर एलान क्यों न करें, बुर्जुआ क्रांति ने जिस 'स्वतंत्र व्यक्ति-सत्ता' की धारणा को जन्म दिया था, सार्त्र उस व्यक्तिवाद के प्रभाव से आज भी उबर न सके। इसलिए देखा जा रहा है कि बुर्जुआ मानवतावादी नैतिकता और मूल्यबोध आज के प्रतिक्रियावादी बुर्जुआ वर्ग के हाथों सुविधा में परिणत हो जाने के बाद, समाज के अंदर मजदूर वर्ग के पूंजीवाद-विरोधी मुक्ति-संघर्ष को केन्द्रकर जो नये मूल्यबोध, न्याय-नीति और नैतिकता की धारणा धीरे-धीरे निर्मित हो रही है, उसे वे व्यक्ति-सत्ता के 'स्वतंत्र अस्तित्व' की बुर्जुआ धारणा से अपने को पूरी तरह मुक्त न कर पाने के फलस्वरूप परिलक्षित करने में सफल नहीं हुए। इसके फलस्वरूप आज के युग में मानवतावादियों से व्यक्ति-स्वतंत्रता और व्यक्ति-मुक्ति के प्रश्न पर आहत होकर ही 'व्यक्ति-स्वतंत्रता' के संबंध में उनके अंदर 'उग्र धारणा' (ultra conception) की यह प्रतिक्रिया दिखाई पड़ी है। पूंजीवादी क्रांति से पैदा हुई बुर्जुआ व्यक्ति-सत्ता की ऐसी गिरावट देखकर और आधुनिक विज्ञान की बदौलत ईश्वरीय विश्वास और शाश्वत सत्य की धारणा के मटियामेट हो जाने के साथ ही चूंकि सभी तरह के पूर्व-निर्धारित मूल्यबोधों की कब्र तैयार हो चुकी है, इसलिए सार्त्र को लगता है कि नैतिकता का

सवाल ही अप्रासंगिक है और उनके लिए आज वह बेमानी हो गया है। लिहाजा सिर्फ यही नहीं कि सार्त्र केवल ईसाई न्याय-नीति और नैतिकता की तरह ही बुर्जुआ मानवतावादी न्याय-नीति तथा मूल्यबोधों की धारणाओं को भ्रांत मानते हैं, बल्कि इसी तर्क के आधार पर वे यहां तक भी मान बैठे हैं कि कम्युनिस्ट मूल्यबोध, न्याय-नीति और नैतिकता भी ईसाई नैतिकता की तरह ही एक रूढ़ि मात्र है। हर प्रकार की निर्धारित मूल्यबोधों की कब्र तैयार हो जाने के साथ-साथ उत्पादन के विकास के एक-एक विशेष ऐतिहासिक स्तर में सामाजिक प्रगति और व्यक्ति के विकास की यथार्थ आवश्यकताओं के आधार पर जो नये मूल्यबोध, न्याय, नीति और नैतिकता की धारणा पैदा हो रही है, इसे अस्वीकार करने की गुंजाइश या कोई तर्क है क्या? फिर द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को एकमात्र सही दर्शन मान लेने से ही क्या होगा? इस चर्चा के दौरान मैं पहले ही दिखा चुका हूं कि किस प्रकार जटिल वस्तुगत प्रक्रिया से पहले-पहल वस्तु से भाव की सृष्टि हुई और वस्तु एवं भाव का आपसी द्वन्द्व-संबंध क्या है। इस पर विचार करने के मामले में वे बुर्जुआ भाववादी धारणा एवं दृष्टिकोण का ही अनुसरण करते हुए चले हैं और सापेक्षता का सिद्धांत, परमाणु का कण सिद्धांत, सम्भाव्य का वैज्ञानिक नियम (theory of relativity, particle theory, scientific law of probability) –इन सब वैज्ञानिक सिद्धांतों का विज्ञान-संगत यथार्थ तात्पर्य न समझ पाने के फलस्वरूप वे दिल से यह मान ही नहीं पा रहे हैं कि **सत्य का मायने ही है विशेष सत्य;** और चूंकि आधुनिक विज्ञान के अनुसार **सभी सत्य सापेक्ष सत्य हैं,** इसलिए विज्ञान द्वारा परीक्षित विशेष सत्य धारणाओं की अहमियत को वे बे-वजह कम करके आंक रहे हैं और **विज्ञान के विशेष सत्यों** के सामान्यीकरण के जरिये एक विशेष क्षेत्र में एक सामान्य सत्य की धारणा तैयार करने की प्रक्रिया की अहमियत को भी वे नहीं समझ पा रहे हैं। क्योंकि उनके मतानुसार आधुनिक विज्ञान के इन सिद्धांतों के आविष्कार के फलस्वरूप चूंकि सभी प्रकार के शाश्वत सत्य की धारणाओं की कब्र तैयार हो चुकी है, इसलिए विज्ञान के इन विशेष सत्यों का उनके लिए कोई खास महत्व नहीं है। इसलिए वे 'विशेष' सत्यों के सामान्यीकरण द्वारा एक 'विशेष' क्षेत्र में एक

सामान्य सत्य की धारणा का निर्माण कर उत्पादन के विकास के एक-एक खास स्तर में, अर्थात मानव सभ्यता के विकास के एक-एक खास ऐतिहासिक स्तर में 'कर्म की पथ-निर्देशक सामान्य लाइन' (general guide to action) के निर्माण की कोई आवश्यकता ही नहीं देख पा रहे हैं। उन्होंने सवाल उठाया कि आखिर विज्ञान ही कौन-सा सत्य प्रमाणित कर रहा है? विज्ञान के तमाम निष्कर्ष ही तो सम्भाव्य (probable) हैं। उनके इस कथन से साफ जाहिर हो जाता है कि इसे वे बिल्कुल न समझ सके कि **आधुनिक विज्ञान का 'सम्भाव्य का नियम' (law of probability) 'कार्य-कारण संबंध के नियम' के खिलाफ नहीं जा रहा है,** बल्कि इसने कार्य-कारण संबंध की धारणा को पूर्व-निर्धारणवाद (pre-determinism) के पूर्वाग्रह (pre-conception) से मुक्त कर और भी स्पष्ट व विस्तृत व्याख्या की है। इस प्रसंग में यहां एक और बात कहना जरूरी है और वह यह है कि द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी विश्लेषण पद्धति के अनुसार विज्ञान के विशेष सत्यों की धारणाओं के सामान्यीकरण के जरिये जो आम सत्य की धारणाएं तैयार होती हैं, वे भी किसी विशेष स्थिति में सामान्य सत्यों की समझ की एक-एक विशेष परिमण्डल मात्र हैं–इसे आज भी अनेक मार्क्सवादी और कम्युनिस्ट लोग अच्छी तरह नहीं समझ पा रहे हैं। इसलिए उनमें से कई लोग द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के इन आम सत्यों और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की वस्तु संबंधी धारणाओं को शाश्वत (absolute) सत्य मानते हैं। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के आम सत्यों की धारणा–जैसे वस्तु निजरूप (things in themselves), वस्तु एक दार्शनिक श्रेणी (matter is a philosophical category), वस्तुनिष्ठ वास्तविकता का मानव चेतना से स्वतंत्र अस्तित्व (existence of objective reality independently of human consciousness), द्वन्द्व के अंतर्गत द्वन्द्व (contradiction within contradiction) आदि; या विज्ञान के किसी आम सत्य की धारणा–जैसे अनंतता (infinity), द्रव्यमान और ऊर्जा का परिरक्षण (conservation of mass and energy), कार्य-कारण के पारस्परिक संबंध बताने वाले नियम (law of causality) आदि आम सत्यों की धारणाओं को ये शाश्वत सत्य के रूप में मानते हैं। विज्ञान के पारिभाषिक शब्दों की सूची पर सोवियत संघ में हाल में ही प्रकाशित शब्दकोश में भी ठीक

वैसी ही गलतफहमी दिखाई दे रही है। उसमें सत्य को शाश्वत (absolute) और सापेक्ष (relative) , दोनों तरह की स्वीकृति दी गयी है। **लेकिन इन सारे आम सत्यों की समझदारी भी एक जगह टिकी नहीं रह सकती–या तो वह सतत बढ़ रही है, विकसित हो रही है और नहीं तो स्थिति के परिवर्तन के साथ-साथ कदम-ब-कदम बढ़ोतरी और विकास न कर सकने के कारण अपर्याप्त हुई जा रही है। यही वजह है कि सारे आम सत्यों का ज्ञान ही एक विशेष स्थिति में आम सत्य के ज्ञान की एक विशेष कैटेगरी मात्र है। अतः आम सत्य के बारे में कोई भी विशेष धारणा और समझ की श्रेणी शाश्वत (absolute) या सर्वकाल के लिए नहीं है।**

सार्त्र का अस्तित्ववाद बुर्जुआ व्यक्तिवाद की ही एक भिन्न अभिव्यक्ति

सार्त्र अंततः द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को सही दर्शन मान लेने पर भी फुयरबाख की तरह ही परिवेश के साथ द्वन्द्व-संघात के अंदर भी व्यक्ति-मानस की एक 'परम स्वाधीन सत्ता' के अस्तित्व के संबंध में बुर्जुआ भाववादी चिंतनधारा के असर के चलते व्यक्ति की मुक्ति हासिल करने के प्रश्न का यथार्थ ऐतिहासिक तात्पर्य क्या है–यह समझने में सक्षम नहीं हुए। 'पसंद की परम स्वतंत्रता' (absolute freedom of choice) की मनगढ़ंत धारणा से यदि वे अपने को मुक्त कर पाते तो सहज ही समझ पाते कि व्यक्तिगत मालिकाने पर आधारित पूंजीवादी क्रांति के माध्यम से उत्पादन व्यवस्था में जो क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ है, उस क्रांति के दौरान ही राज्य के दमनात्मक शासन और सभी प्रकार के सामाजिक अन्याय से मुक्ति-अर्जन के लिए व्यक्ति-स्वतंत्रता के संघर्ष ने पहले-पहल संगठित रूप लिया था और व्यक्ति की आजादी और मुक्ति के संबंध में बुर्जुआ वर्ग के विचारों एवं मान्यताओं को केन्द्र बनाकर ही मानवतावादी मूल्यबोधों और विचारों का जन्म हुआ था। इसलिए बुर्जुआ क्रांति से पैदा हुई मानवतावादी व्यक्ति-स्वतंत्रता और व्यक्ति-मुक्ति की धारणा किसी हालत में भी व्यक्ति-सत्ता के अंदर चिंतन की एक एब्सोल्यूट स्वतंत्र सत्ता के अस्तित्व की धारणा और व्यक्तिगत संपत्तिबोध की मानसिक ग्रंथि से मुक्त नहीं हो सकती। फिर

वे यह भी समझ पाते कि मरणासन्न पूंजीवाद के युग में मानवतावाद जब व्यक्ति के मुक्ति-संघर्ष के हथियार के बजाय आज व्यक्ति-स्वतंत्रता का हनन करने के काम में प्रतिक्रियावादी शोषक वर्ग के हाथों में एक हथियार, एक सुविधा में तब्दील हो चुका है और बुर्जुआ मानवतावादी लोग लगातार सेना और नौकरशाही पर निर्भर होते जा रहे हैं, तब इस नयी परिस्थिति में व्यक्ति की मुक्ति-अर्जन की सही लड़ाई उत्पादन को पूंजीवादी शिकंजे से मुक्त करने के साथ-साथ ज्ञान, विज्ञान, कला, साहित्य अर्थात मनुष्य की पूरी संस्कृति को पूंजीवादी मुनाफाखोरी के मकसद और पुराने मानवतावादी मूल्यबोधों के बंधनों एवं जंजीरों से मुक्त करने की लड़ाई है। यह बात समझने पर सार्त्र आसानी से समझ पाते कि आज व्यक्ति का मुक्ति-संघर्ष सर्वहारा वर्ग के पूंजीवाद-विरोधी मुक्ति-संघर्ष और सर्वहारा अधिनायकत्व स्थापित करने के संघर्ष के साथ ऐतिहासिक नियम से ही ओतप्रोत रूप से जुड़ा हुआ है। तब वे सचमुच समझ सकते कि **बुर्जुआ वर्ग को राजसत्ता एवं आर्थिक क्षेत्र में सत्ता से बेदखल करने के बाद समाजवादी व्यवस्था में सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व की अंतिम विजय प्राप्त करने की लड़ाई राजसत्ता को मुरझा डालने (wither away) की लड़ाई के साथ-साथ और राज्य के दमनात्मक शासन से व्यक्ति की सम्पूर्ण मुक्ति हासिल करने की लड़ाई है।** तभी वे समझ पाते कि समाजवादी व्यवस्था में व्यक्ति का मुक्ति-संघर्ष, जो एक नये विशेष ऐतिहासिक स्तर में पहुंच चुका है, उसकी मूल समस्या अब और किसी दूसरे वर्ग के विरुद्ध लड़कर स्वतंत्रता एवं अधिकार पाने की समस्या नहीं है। इस स्तर में पहुंच जाने पर **इस संघर्ष का मुख्य लक्ष्य हो गया है कि व्यक्ति की आवश्यकताओं के साथ सामाजिक आवश्यकताओं का जो विरोधात्मक द्वन्द्व (antagonistic contradiction) तब भी मौजूद रहता है, उसे मिलनात्मक द्वन्द्व (non antagonistic contradiction) में रूपांतरित करना।** इस संघर्ष में पूर्ण सफलता हासिल करना है तो एक ओर अर्थव्यवस्था के क्षेत्र में उत्पादन-पद्धति में लगातार तरक्की करते हुए लघु-उत्पादन, माल का परिचालन (commodity circulation), मूल्य के सिद्धांत (theory of value) आदि की विलुप्ति की प्रक्रिया को तेज करने के रास्ते उत्पादन की प्रचुरता लाकर आर्थिक क्षेत्र में वर्गों की विलुप्ति

करना और दूसरी ओर अविराम सांस्कृतिक क्रांति द्वारा व्यक्ति की चाह-आकांक्षा की विषय-वस्तु और सोच-विचारों को निजी सम्पत्तिबोध की मानसिक ग्रंथि से मुक्तकर समाज में आमूल-चूल परिवर्तन लाना होगा। जबकि व्यक्ति-स्वतंत्रता का संघर्ष चलाने के इस स्तर में बुर्जुआ व्यक्ति-स्वतंत्रता और व्यक्तिवाद की पुरानी बुर्जुआ धारणाएं आदतों और संस्कारों के रूप में मुख्य बाधा बनकर दिखाई देती हैं–जो सामाजिक स्वार्थ के साथ व्यक्तिगत स्वार्थ का एकात्मीकरण (identification) नहीं होने देती हैं। इसलिए व्यक्ति की स्वतंत्रता के संघर्ष के इस पेचीदा दौर में बुर्जुआ व्यक्तिवाद या सार्त्र के अस्तित्ववाद का असर ही व्यक्ति के मुक्ति-संघर्ष में मुख्य बाधास्वरूप है। **आर्थिक क्षेत्र में वर्ग की विलुप्ति के बाद भी जब तक ऊपरी ढांचे (super structure) में बुर्जुआ व्यक्तिवाद, समाजवादी व्यक्तिवाद या सार्त्र का अस्तित्ववाद–चाहे जिस रूप में भी क्यों न हो सामाजिक-मानसिकता में व्यक्तिवाद का अस्तित्व रहेगा, तब तक राज्यसत्ता का मुरझाना संभव नहीं, फलतः व्यक्ति के मुक्ति-अर्जन में भी देर होनी लाजिमी है।**

इस तरह हम देख रहे हैं कि राज्य के दमनात्मक शासन और हर तरह के सामाजिक अन्याय से व्यक्ति की मुक्ति हासिल करने के लिए व्यक्ति-स्वतंत्रता की लड़ाई के आरंभ, विकास और विलुप्ति की ऐतिहासिक धारा को समझने में सार्त्र सक्षम नहीं हुए। बुर्जुआ क्रांति ने व्यक्ति-सत्ता अर्थात चिंतन के क्षेत्र में व्यक्ति के स्वतंत्र अस्तित्व की जिस धारणा को पैदा किया है, बीसवीं सदी में पूंजीवाद के मौजूदा चरम संकट के समय व्यक्ति-स्वतंत्रता और व्यक्ति मुक्ति के सवाल पर मानवतावादियों से आहत होकर उसी व्यक्तिवाद के अंदर स्वतंत्रता संबंधी अतिवादी-धारणा (ultra conception) की जो चरम प्रतिक्रिया दिखाई दी है–उसी से सार्त्र के अस्तित्ववाद का जन्म हुआ है। इसकी जानकारी होने पर सार्त्र यह भी सहज ही समझ जाते कि वे आज 'अकेले' क्यों पड़ गये हैं? साम्राज्यवाद के विरुद्ध आजादी की लड़ाई में और पूंजीवादी जुल्म के विरुद्ध मजदूर वर्ग और दूसरे-दूसरे शोषितों के साथ जब वे अकेले खड़े होते हैं, तब वे अपने अस्तित्ववादी चेलों को अपने नजदीक क्यों नहीं पाते? क्यों उनके चेले अस्तित्ववाद को एक निकृष्ट (vulger) सुविधा में परिणत करते जा रहे हैं? अन्याय के

विरुद्ध जनसाधारण की लड़ाई से वे अपने आप को अलग किये रखने की कोशिश में क्यों लगे हुए हैं और क्यों क्रमशः अहम् भाव से ग्रस्त और आत्म-केंद्रित (ego-centric and self centric) होते जा रहे हैं? सार्त्र का अस्तित्ववाद दरअसल बुर्जुआ व्यक्तिवाद की ही एक भिन्न अभिव्यक्ति मात्र है। यही वजह है कि वह आज के हालात में लड़ाई का हथियार बनने के बजाय अवश्यम्भावी रूप से सुविधा में तब्दील हो जाने को बाध्य है।

परिवेश के असर के बावजूद चिंतन की एक सीमाहीन (absolute) स्वतंत्रता की धारणा, अर्थात परिवेश के साथ द्वन्द्व-संघात के बीच भी व्यक्ति-सत्ता के एक 'स्वतंत्र अस्तित्व' की धारणा बुर्जुआ व्यक्ति-सत्ता, व्यक्ति-स्वतंत्रता, व्यक्ति-मुक्ति आदि को लेकर मानवतावाद एक विशेष वैचारिक श्रेणी मात्र है—जो पूंजीवादी क्रांति द्वारा उत्पन्न और पूंजीवादी सामाजिक व्यवस्था की व्यक्तिगत सम्पत्ति के साथ ओतप्रोत रूप से जुड़ी हुई है। लिहाजा **मानवतावादी मानसिकता व्यक्तिगत सम्पत्तिबोध जनित मानसिक ग्रंथि से किसी हालत में मुक्त नहीं रह सकती**—यह सत्य मार्क्स ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की रोशनी में सहज ही समझ लिया था। इसी कारण मार्क्स समाज में वर्ग-संघर्ष की उत्पत्ति, विकास और विलुप्ति के नियम और मनुष्य के विचार-जगत एवं आदर्शवाद के क्रमविकास के नियमों को समझने में सक्षम हुए थे। इसलिए मजदूर वर्ग के मुक्ति-संघर्ष को केन्द्रकर पूंजीवादी समाज के अंदर ही जिन बिल्कुल नये विचारों, मूल्यबोधों, न्याय-नीतियों और नैतिकता की धारणाओं का निर्माण हो चुका है—मार्क्स के माध्यम से उनका व्यक्तीकरण होने के फलस्वरूप साम्यवाद या वैज्ञानिक समाजवाद की धारणा का जन्म हुआ है। तभी तो मार्क्स से जब एक समय यह सवाल किया गया कि साम्यवाद भी तो मानवतावाद ही है, फिर उन्होंने इसे मानवतावाद न कहकर साम्यवाद क्यों कहा? मार्क्स ने इसके जवाब में कहा था—**'साम्यवाद व्यक्तिगत-सम्पत्ति विहीन मानवतावाद है।' (Communism is humanism minus private property*)**

---

* मार्क्स के शब्दों में, "Communism is humanism mediated with itself through the supersession of private property". (Economics & Philosophic Manuscripts of 1844, Moscow, 1977, P-157)

इस कथन द्वारा मार्क्स ने उस नियम को दिखाना चाहा है, जिसके अनुसार मानवतावाद की धारावाहिकता (continuity) की परिणति के रूप में साम्यवाद का जन्म हुआ है। अर्थात एक से दूसरे की उत्पत्ति होने के बावजूद उस धारा के प्रवाह के अंतर्गत भी एक विच्छेद (break) है—जो इन दोनों विचारधाराओं को एक दूसरे से पूर्णत: अलग कर देता है और जो इन दोनों की उत्पत्ति के पीछे उत्पादन के विकास के दो विशेष ऐतिहासिक स्तरों को इंगित करता है।

इस चर्चा से मुझे उम्मीद है, आप लोग जरूर अहसास कर पा रहे हैं कि क्रांतिकारी सांस्कृतिक आन्दोलन में लगे कार्यकर्ताओं पर आज कितनी जबर्दस्त जिम्मेवारी आ पड़ी है। उस जिम्मेवारी को निभाने के लिए जो बात हमेशा याद रखनी होगी, वह यह है कि देश के मजदूर वर्ग सहित शोषित जनता तीव्र वर्ग-संघर्ष में लगे रहने के बावजूद आज भी विभिन्न तरह की बुर्जुआ विचारधाराओं के प्रभाव से पूरी तरह मुक्त नहीं है। **बुर्जुआ विचार, मूल्यबोध और नीति-नैतिकता की धारणाएं तरह-तरह से, खासकर आदत और संस्कार के रूप मे मजदूर वर्ग के सांस्कृतिक और राजनीतिक आन्दोलन में प्रत्यक्ष रूप से लगे अनेक नेताओं और कार्यकर्ताओं की चिंतन-मनन क्रिया पर आज भी अच्छा-खासा असर जमाये हुए हैं।** नतीजे के तौर पर आज पग-पग पर मजदूर वर्ग के मुक्ति-संघर्ष में तरह-तरह की गलतफहमियां पैदा होती जा रही हैं। साथ ही मजदूर वर्ग के मुक्ति-संघर्ष के परिपूरक सांस्कृतिक आन्दोलन को भी वे भटका रही हैं। मजदूर आन्दोलन में, अतिभौतिकता का मुखौटा पहनकर और क्रांतिकारी लफ्फाजी की आड़ में न जाने कितने प्रकार से बुर्जुआ मानवतावाद और बुर्जुआ व्यक्तिवाद का प्रभाव अब भी काम कर रहा है। जैसा कि आजकल न सिर्फ मार्क्सवादी, बल्कि कम्युनिस्ट कहकर परिचय देने वाली बहुत-सी पार्टियों के प्रमुख नेताओं तक के मुंह से यह खुल्लम-खुल्ला कहते सुना जाता है कि यह नैतिकता क्या बला है? नैतिकता की धारणा तो एक बुर्जुआ भाववादी धारणा मात्र है! ये नेता आये दिन ऐसा मत जाहिर करते रहते हैं मानो मार्क्सवाद, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद हर तरह की नैतिकता की धारणा का विरोधी हो। वाह, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और मार्क्सवाद की क्या ही अजीब समझदारी

है! इन सब तथाकथित चिंतकों के हाथों में पड़कर मार्क्सवाद और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की यह कैसी दयनीय परिणति हुई है! इन तथाकथित क्रांतिकारियों के इस प्रकार के कथन और तदनुसार आचरण बेशक यह साबित करते हैं कि बुर्जुआ व्यक्तिवाद, जो आज सुविधा में तब्दील हो चुका है और सार्त्र का अस्तित्ववाद इनके अनजाने ही इनकी चिंतन-प्रक्रिया पर अपना असर जमाये हुए है। तथाकथित मार्क्सवादियों और कम्युनिस्टों के एक हिस्से के ऐसे चिंतन और आचरण के चलते मजदूर आन्दोलन और सर्वहारा सांस्कृतिक आन्दोलनों की रीढ़ पर भीतर से ही कुठाराघात किया जा रहा है। लिहाजा इसके जहरीले असर से यदि सांस्कृतिक आन्दोलन को बचाना है, तो आपको इसके विरुद्ध जोरदार संघर्ष छेड़ना होगा।

सामाजिक द्वन्द्व-संघात का केन्द्र बिंदु व्यक्ति नहीं

फिर, अपने को मार्क्सवादी कहकर परिचय देने वाले ऐसे लोगों की भी कमी नहीं है, जो व्यक्ति को ही द्वन्द्व का केन्द्र बिंदु मानते हैं। जबकि इतिहास, विज्ञान, द्वन्द्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवाद के किसी भी सिद्धांत के अनुसार द्वन्द्व का केन्द्र बिंदु व्यक्ति नहीं है। व्यक्ति को द्वन्द्व का केन्द्र बिंदु मान लेने से मार्क्सवाद-लेनिनवाद जपते-जपते ही अंततः या तो गांधीवाद और नहीं तो सार्त्र के अस्तित्ववाद की गिरफ्त में चले जाना होगा। इसलिए हमेशा याद रखें कि **सामाजिक द्वन्द्व-संघातों का केन्द्र बिंदु व्यक्ति-सत्ता नहीं है, बल्कि मामला ठीक इसके विपरीत है। उत्पादन के विकास के एक विशेष ऐतिहासिक स्तर में एक विशेष समाज के अंदर तरह-तरह की परस्पर विरोधी शक्तियों के द्वन्द्व-संघातों के अंतर्गत हर समय दो मूल विरोधी शक्तियों का जो द्वन्द्व मौजूद रहता है, वही होता है उस समाज का प्रधान द्वन्द्व (principal contradiction) और उस प्रधान द्वन्द्व का प्रधान पहलू (principal aspect of principal contradiction) ही होता है उस समाज के सारे द्वन्द्व-संघातों का केन्द्र बिंदु। इसी प्रधान द्वन्द्व के इर्द-गिर्द समाज के बाकी तमाम द्वन्द्व-संघात घूम रहे हैं और व्यक्ति-सत्ता का नित्य नये-नये रूपों में आविर्भाव हो रहा है।**

व्यक्ति को द्वंद्व का केन्द्र बिंदु मानने के फलस्वरूप कम्युनिस्ट आन्दोलन में दो प्रकार के भटकाव नजर आ रहे हैं। कम्युनिस्ट आन्दोलन में, यहां तक कि पार्टी के अन्दरूनी संघर्ष के मामले में भी कुछ लोग कम्युनिस्ट बिल्ला लगाये बुर्जुआ व्यक्तिवाद और बुर्जुआ व्यक्ति-स्वतंत्रता की धारणाओं को ही आज भी पालते जा रहे हैं। इसके नतीजे के तौर पर ये लोग पार्टी के अंदर व्यक्ति की जरूरत और पार्टी की जरूरत में एकात्मता लाने के संघर्ष में वस्तुतः नाना प्रकार की रुकावटें पैदा कर रहे हैं। **अगर पार्टी के अंदर अति-जनतंत्र (ultra-democracy) और उदार-जनतंत्र (liberal democracy) के तर्क-जाल की आड़ में बुर्जुआ व्यक्ति-स्वतंत्रता का प्रभाव यथेष्ट मात्रा में मौजूद रहे, तो जनसंघर्ष और क्रांतिकारी संघर्ष के ज्वार के दरम्यान, अर्थात जब तक क्रांति का उबाल मौजूद रहता है, तब तक इसका उतना जहरीला प्रभाव भले ही न दिखाई दे, लेकिन संघर्ष के मंद पड़ जाने पर और नाउम्मीदी के माहौल में इसकी भयानक और जहरीली प्रतिक्रिया लाजिमी तौर पर होगी ही।** जब तक इस चिंतन-पद्धति और व्यक्तिवादी रुझान को लगातार तीव्र सांस्कृतिक संघर्ष के जरिये पूरी तरह शिकस्त नहीं दे दी जाती, तब तक पार्टी के अंदर इस व्यक्तिवाद का अस्तित्व, यहां तक कि समाजवादी व्यवस्था में भी बार-बार तरह-तरह से प्रकट होकर अनेक विपत्तियां पैदा करता रहेगा।

एक और भटकाव जो इस गलत चिंतन-पद्धति के प्रभाव से होता दिख रहा है, वह है—लोगों का एक हिस्सा यह मान रहा है कि कम्युनिस्ट आन्दोलन में आज जो कमी-खामियां और भटकाव नजर आ रहे हैं, उनका मुख्य कारण कम्युनिस्टों का निष्ठा के साथ लेनिनीय आचरण विधि का पालन न करना है। लिहाजा, वे मानते हैं कि सच्चे कम्युनिस्टों का एक दस्ता तैयार करने के लिए जो कम्युनिस्ट होना चाहते हैं, उन्हें सबसे पहले लेनिनीय आचरण विधि का अनुसरण कर चलने का अभ्यास करना होगा। लेकिन वे समझ ही नहीं पा रहे हैं कि समाज के अंदर जहां बुर्जुआ वर्ग और मजदूर वर्ग का द्वन्द्व ही मूल द्वन्द्व के रूप में दिखाई दे रहा है और इसके फलस्वरूप इसी द्वन्द्व को केन्द्र करके मजदूरों, किसानों और निम्न मध्यमवर्गीय लोगों की

प्रतिदिन हर क्षण जो सब लड़ाइयां संगठित हो रही हैं–वे गलत हों या सही, मजदूर वर्ग की राजनीतिक और आर्थिक इन लड़ाइयों से अपने को अलग-थलग रखकर लेनिनीय आचरण विधि को अपनाना, अमल में लाना और इसका सही ढंग से अनुसरण करना किसी के द्वारा कतई मुमकिन नहीं। मजदूर वर्ग के इन आन्दोलनों के साथ प्रत्यक्ष रूप से जुड़े रहकर ही सर्वहारा के सही क्रांतिकारी राजनीतिक सिद्धांत के अनुसार उन्हें संचालित करने का जो संघर्ष है, इसके साथ लेनिनीय आचरण विधि अपनाने के संघर्ष को सही ढंग से संयोजित कर पाने पर ही संघर्ष के विभिन्न विशेष स्तरों में उस लेनिनीय आचरण विधि का यथार्थ तात्पर्य क्या है, यह ठीक-ठीक समझा जा सकता है और केवल इसी रास्ते लेनिनीय आचरण विधि का पालन करना सीखा जा सकता है। चूंकि यह लेनिनीय आचरण विधि कोई आचरणवाद नहीं, बल्कि द्वन्द्व-संघात के दरम्यान ही इसकी समझ नित्य नये-नये रूपों में प्रकट हो रही है। इस सत्य को न समझ पाने के फलस्वरूप चूंकि इनके मतानुसार आन्दोलन का नेतृत्व सही नहीं है, इसलिए ये लोग मजदूर-किसानों की लड़ाइयों को भी फिजूल लड़ाई जैसा मान रहे हैं और 'लेनिनीय पद्धति' से 'सच्चे' क्रांतिकारियों का एक दस्ता तैयार करने के नाम पर इन लड़ाइयों से अपने को बिल्कुल अलग-थलग रखकर असल में एक प्रकार के आचारसंहिता-सर्वस्व व्यक्तिवाद (Code mongering indvidualism) के गर्त में पड़ते जा रहे हैं।

सर्वहारा की बदहाल जिन्दगी की हूबहू तस्वीर पेश करना सर्वहारा संस्कृति नहीं

प्रगतिशील और सर्वहारा संस्कृति को अमल में लाने के नाम पर सांस्कृतिक आन्दोलन की आज जो तस्वीर देख रहा हूं, उससे एक बात और कहने को मजबूर हूं। आज यह अच्छी तरह समझने का वक्त आ गया है कि मजदूरों, किसानों और निम्न मध्यमवर्गीय लोगों पर मालिकों और जोतदारों के भीषण अत्याचारों की घटनाओं को करुण कहानियों के रूप में सजा-संवार कर रख देने से ही सर्वहारा क्रांतिकारी संस्कृति पैदा नहीं की जा सकती। यह बात अच्छी तरह समझने का समय आ गया है। पूंजीवादी शोषण की चक्की में पिस रहे और हर तरफ से

दुर्दशाग्रस्त मजदूर-किसानों, निम्न मध्यमवर्गीय लोगों और झुग्गी निवासियों की रोजमर्रे की घोर दु:सह जिंदगी को हू-ब-हू आंकना, अर्थात उसकी फोटोग्राफिक तस्वीर खींच डालना भी सर्वहारा संस्कृति नहीं है। जो क्रांतिकारी सर्वहारा संस्कृति की बात कर रहे हैं, उन्हें सबसे पहले यह समझना चाहिए कि हमारे देश के सर्वहारा वर्ग की संरचना-विन्यास (composition) कैसी है? दुनिया के तमाम पिछड़े देशों की तरह हमारे देश में भी मजदूर वर्ग में तीन हिस्से हैं। एक हिस्सा वह है, जिसका आज भी ग्रामीण किसानी जीवन से पूरी तरह अलगाव नहीं हुआ है। मजदूरों का यह हिस्सा मजदूर आन्दोलन में देहाती जीवन के तरह-तरह के कुसंस्कार, अंधविश्वास, धर्मान्धता, कठमुल्लापन और गंवारपन इत्यादि को लाता रहता है। दूसरा हिस्सा वह है जो आर्थिक दबाव के कारण निम्नमध्यम वर्ग से धीरे-धीरे झुग्गीवासी या मजदूर वर्ग में तब्दील तो हो गया है, पर वैचारिक और रुचिगत तौर पर मध्यमवर्गीय 'बाबू समाज' से आज भी उसका सम्पर्क बिल्कुल खत्म नहीं हुआ है। मजदूर वर्ग का यही हिस्सा मजदूर आन्दोलन में पेटी बुर्जुआ भावविलासिता और ढुलमुलपन, व्यक्तिगत सुविधावाद, आत्म केन्द्रिकता, व्यक्तिवाद, उदारवाद, अर्थवाद और हर तरह की अवसरवादी मानसिकता को लाता रहता है। अंतिम तीसरा हिस्सा वह है, जिसका नाता शहर के मध्यमवर्गीय बाबू समाज और ग्रामीण किसान समाज से बिल्कुल टूट चुका है। हमारे देश में संख्या की दृष्टि से कम होने के बावजूद सर्वहारा वर्ग में यही सबसे क्रांतिकारी हिस्सा है। ये लोग ही सबसे ज्यादा बेपरवाह (desperate) हैं। लेकिन यह याद रखना होगा कि जब तक ये लोग सही वर्ग चेतना से लैस नहीं हो जाते, अर्थात जब तक इनमें क्रांतिकारी चेतना पैदा नहीं हो जाती, इनकी यह बेपरवाही उद्देश्यहीन है और बुर्जुआ व्यक्तिवाद, जो आज समाज में निकृष्ट स्तर में पहुंच चुका है, उसका प्रभाव भी इनमें बहुत ज्यादा मौजूद है। इन तीन अलग-अलग मानसिकताओं का आपसी द्वन्द्व ही मजदूर वर्ग का अन्दरूनी द्वन्द्व है। लेकिन पूरे मजदूर वर्ग के साथ पूंजीपति वर्ग का राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में हर पल जो जीवन-मरण का संघर्ष चल रहा है, वही है आज के समाज का मूल द्वन्द्व। यही मूल द्वन्द्व मजदूर वर्ग के अन्दरूनी द्वन्द्व को लगातार प्रभावित कर रहा है।

इसलिए हमेशा याद रखना होगा कि प्रतिदिन के मजदूर आन्दोलन में से मजदूरों के अंदर समाजवादी चेतना, वैज्ञानिक समाजवाद का विचार, सर्वहारा वर्ग की राजनीति खुद ब खुद पैदा नहीं होती है। यह चेतना बाहर से लायी जाती है (comes from without), अर्थात यह चेतना हासिल करने का संघर्ष एक अलग संघर्ष है। यही वजह है कि एकमात्र सर्वहारा क्रांतिकारी राजनीति का प्रभाव लगातार बढ़ाकर ही, मजदूर वर्ग के अंदर बुर्जुआ, पेटी-बुर्जुआ और सामंती विचारधारा का जो प्रभाव आज भी मौजूद है, उन्हें दूर करना होगा और धीरे-धीरे उनमें नयी क्रांतिकारी चेतना, मूल्यबोध, न्याय-नीति और नैतिकता की धारणा निर्मित करनी होगी। इसके लिए सांस्कृतिक आन्दोलन के नेताओं और कार्यकर्ताओं को आंखें खोलकर इस पहलू पर अच्छी तरह गौर करना होगा और इसे सही-सही समझना होगा। यह काम करने के लिए घर में बैठे संस्कृति की चर्चा करने से या मजदूर वर्ग के आन्दोलन के साथ मात्र सतही तौर पर जुड़े रहने से ही काम नहीं चलेगा। सर्वहारा वर्ग की सही क्रांतिकारी राजनीति को पहचान कर, उस राजनीति के आधार पर शोषित वर्ग के जो आन्दोलन चल रहे हैं–उन आन्दोलनों के साथ अपने को जोड़ने और उस क्रांतिकारी आन्दोलन के नेताओं, कार्यकर्ताओं और जनसाधारण के साथ प्रत्यक्ष एवं घनिष्ठ एकता कायम करने की सख्त जरूरत है। क्योंकि मजदूर वर्ग के बीच मात्र सर्वहारा के इस क्रांतिकारी राजनीतिक विचार के प्रसार के माध्यम से ही नये मूल्यबोध, न्याय-नीति और नैतिकता की धारणाओं से सर्वहारा वर्ग को लैस करना होता है। इस तरह यदि आप अपने को मजदूर वर्ग की सही क्रांतिकारी राजनीति के साथ जोड़ सकें, सिर्फ तभी आप यह समझने में सक्षम होंगे कि **सर्वहारा वर्ग के क्रांतिकारी विचार, मूल्यबोध, न्याय-नीति और नैतिकता की ये धारणाएं, बुर्जुआ क्रांति के शुरुआती युग में बुर्जुआ विचार और मूल्यबोध का एक दिन जो सर्वोच्च मान तैयार हुआ था–उसके मुकाबले कितनी उन्नत, महान और सुंदर हैं।**

सर्वहारा का सही क्रांतिकारी आन्दोलन इस देश में अब तक जितना ही गठित हुआ है, उससे जुड़े न रहने के फलस्वरूप लोगों का एक हिस्सा सर्वहारा संस्कृति के नाम पर असल में अतीत के मानवतावादियों

की तरह ही शोषण की चक्की में पिस रहे और पददलित सर्वहारा की दर्दभरी जिंदगी की हूबहू तस्वीर आंकने और मालिकों एवं जोतदारों के विरुद्ध मजदूर-किसानों के रोजमर्रे के आन्दोलनों का हूबहू चित्र आंकने और उसी में थोड़ी-बहुत क्रांतिकारी भाषणबाजी कर डालने को ही सर्वहारा की क्रांतिकारी संस्कृति मान रहे हैं। इसके जरिये सर्वहारा और शोषित जनता के प्रति मानवतावादी हमदर्दी की चरम पराकाष्ठा दिखाना भले ही हो, लेकिन सर्वहारा संस्कृति पैदा नहीं की जा सकती। सर्वहारा के प्रति मानवतावादियों के ऐसे दयाभाव और अनुग्रह को क्रांतिकारी चेतना से प्रेरित तमाम मेहनतकश घृणा की नजर से देखते हैं। फिर ये लोग यह भी नहीं समझ पा रहे हैं कि इस तरह इनकी जीवन-यात्रा और रोज-रोज की लड़ाइयों की हू-ब-हू तस्वीर आंकने के माध्यम से असल में ये लोग बुर्जुआ, पेटी-बुर्जुआ और सामंती विचारधारा-जो सर्वहारा के बीच आज भी मौजूद है—मजदूर वर्ग की संस्कृति के नाम पर सिर्फ उसी विचारधारा, मूल्यबोध और रुचि को प्रकट कर रहे हैं। इसलिए इनकी कला-कृतियों का मान, रुचिगत रूप में नवजागरण काल की बुर्जुआ मानवतावादी संस्कृति का स्तर पार कर नये उन्नत स्तर में पहुंचने की बात तो दूर रही, उससे भी नीचे दर्जे का होता जा रहा है।

सामाजिक-सांस्कृतिक क्रांति का झण्डा बुलन्द करें

अत: देखा जाता है कि **मानवतावादी मूल्यबोधों के खात्मे के रास्ते ही सर्वहारा संस्कृति का जन्म होता है।** लिहाजा आज सिर्फ रवीन्द्रनाथ, शरतचन्द्र और नजरूल का प्रशस्ति गान गाने से ही काम नहीं चलेगा। इनके साहित्य-चिंतन के मुख्य वर्ग-चरित्र का निर्णय कर आज एक पूर्णत: नये दृष्टिकोण से इनके मूल्यांकन की जो जरूरत है—उस काम में आप लोगों को जनसाधारण की मदद करनी होगी। राममोहन राय से शुरू कर विद्यासागर, रवीन्द्रनाथ, शरतचन्द्र और नजरूल आदि सांस्कृतिक आन्दोलन को स्तर-दर-स्तर जिस उन्नत धरातल पर लाकर खड़ा कर गये हैं, आप लोगों के सांस्कृतिक आन्दोलन का ठीक वहीं से आरंभ होगा। ठीक वहीं से शुरू होगी सर्वहारा संस्कृति की जय यात्रा। लेकिन इसके साथ ही एक और बात

आपको याद रखनी होगी। स्वतंत्रता आन्दोलन के जमाने में इस देश के बुर्जुआ मानवतावादी आन्दोलन के अंदर जिन दो धाराओं की बात मैंने पहले कही है, **उनके अंदर मूलतः मानवतावाद की जो समझौतारहित, यौवनोद्दीप्त और क्रांतिकारी धारा रही जिसका प्रतिनिधित्व शरतचन्द्र और नजरूल ने किया था, उसकी धारावाहिकता और उसके साथ विच्छेद कराके ही सर्वहारा संस्कृति का जन्म होना है।** आज आप लोग, जो शरतचन्द्र और नजरूल के सही मायने में उत्तराधिकारी होना चाहते हैं, इतिहास के अकाट्य नियम के मुताबिक ही शरत्-चिंतन और नजरूल-चिंतन के साथ स्वाभाविक तौर पर ही आपके चिंतन का एक विरोध दिखाई देना लाजिमी है। आज की सर्वहारा संस्कृति के सृजन में लगे लोग शरतचन्द्र और नजरूल के उत्तराधिकारी हैं और सही उत्तराधिकारी होने का मायने ही है कि जिनके आप उत्तराधिकारी हैं, उनके साथ आपका चिंतनगत विरोध होगा ही। जो लोग बदले हुए हालात में भी सिर्फ उसी पुराने चिंतन की ही रट लगाये जा रहे हैं, वे उनके उत्तराधिकारी तो कदापि हैं ही नहीं, उल्टे इन महानुभावों ने उनकी संस्कृति जो एक दिन लड़ाई का हथियार थी, उसे आज एक सुविधा में तब्दील कर डाला है। इसलिए आज प्रगतिशील सांस्कृतिक आन्दोलन के सामने प्रधान कार्यभार यह है कि राष्ट्रीय स्वतंत्रता आन्दोलन में सामाजिक और सांस्कृतिक क्रांति के जिस झण्डे को राजनैतिक नेताओं ने राजनैतिक सत्ता प्राप्ति की हड़बड़ी में अवहेलना से जहां बलाए-ताक रख दिया, वहां शरत् और नजरूल ने उसे ऊंचा उठाये रखने की पुरजोर कोशिश की, लेकिन उस झण्डे को जनतंत्रवादी, समाजवादी और छद्म-साम्यवादी लोग वोट की राजनीति में असुविधा होने के डर से आज भी अवहेलना से बलाए-ताक रखे हुए हैं, सामाजिक और सांस्कृतिक क्रांति के उस अवहेलित एवं भू-लूंठित झण्डे को आज आप लोगों को बुलंद रखना होगा और ज्ञान की रोशनी से उसे लगातार और भी रोशन करना होगा। इस तरह 'विशुद्ध संस्कृति' के अमल और हर प्रकार की बुर्जुआ विचारधारा के घृणित हमलों को रोकते हुए आप लोग अगर इस सांस्कृतिक आन्दोलन को स्तर-दर-स्तर बढ़ाकर देश में सर्वहारा क्रांति के पूरिपूरक ऐसा एक शक्तिशाली सांस्कृतिक आन्दोलन संगठित कर सकें, तभी आप लोग रवीन्द्रनाथ,

शरतचन्द्र और नजरूल संस्कृति के सच्चे उत्तराधिकारी होंगे और तभी राष्ट्रीय जीवन में आज जो नैतिकता का संकट है, सांस्कृतिक आन्दोलन में जो जड़ता घर किए हुए है, वह दूर होगी। आप लोग निर्भय होकर आगे बढ़ें—अंतिम विजय आप की ही होनी है। इतना ही कह कर मैं अपनी बात समाप्त करता हूं।

26 मई, 1969 को काजी नजरूल इस्लाम की 70वीं जयंती मनाने के उपलक्ष्य में 'पथिकृत' सांस्कृतिक संस्था द्वारा आयोजित एक सभा में दिया गया भाषण। यह पथिकृत द्वारा प्रकाशित एक पुस्तक में मई 1970 में पहली बार प्रकाशित हुआ था।